ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और सांख्यकारिका

के परिप्रेक्ष्य में

"प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त तथा सांख्य दर्शन"

– एक पर्यालोचन

– डॉ० जगीर सिंह

संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय,

जम्मू ।

मूल्य :- सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और सांख्यकारिका

के परिप्रेक्ष्य में

"प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त तथा सांख्य दर्शन"

– एक पर्यालोचन

– डॉ० जगीर सिंह

संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय,

जम्मू।

मूल्य :- सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय

विषयानुक्रमणिका

संकेत–सूची

अ॰ को॰	–	अमरकोष
अनु॰ अ॰	–	अनुत्तराष्टिका
अनु॰ प्र॰ पं॰	–	अनुत्तरप्रकाश पञ्चाशिका
अभि॰ वृ॰ मा॰	–	अभिधावृत्ति मातृका
अमन॰ यो॰	–	अमनस्क योग
अष्टा॰	–	अष्टाध्यायी
ई॰ प्र॰ का॰	–	ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका
ई॰ प्र॰ का॰ वृ॰	–	ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका वृत्ति
ई॰ प्र॰ वि॰	–	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
ई॰ प्र॰ वि॰ वि॰	–	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी
ई॰ सि॰	–	ईश्वर सिद्धि
ऋ॰ वे॰	–	ऋग्वेद
ऋ॰ वे॰, वा॰ सू॰, म॰	–	ऋग्वेद, वाक्सूक्त, मन्त्र
ऐत॰ ब्रा॰	–	ऐतरेय ब्राह्मण
का॰	–	कारिका
का॰ अलं॰	–	काव्यालंकार
कु॰ महा॰	–	कुण्डलिनी महायोग
कौ॰ ब्रा॰	–	कौषीतकि ब्राह्मण
कठ॰ उप॰	–	कठोपनिषद्
क्र॰ स्तो॰	–	क्रम स्तोत्र
गा॰ तं॰	–	गायत्री तन्त्र

गौ० पा० का०	–	गौड़पाद कारिका
गौड़० भा०	–	गौड़पाद भाष्य
छा० उप०	–	छान्दोग्योपनिषद्
तं० आ०, आह०	–	तन्त्रालोक आह्निक
तं० आ०, वि०	–	तन्त्रालोक विवेक
त० कौ०	–	तत्त्व कौमुदी
त० वै०	–	तत्त्व वैशारदी
त० सं०	–	तत्त्व सन्दोह
तं० सा०, आह०	–	तन्त्रसार, आह्निक
ध्व० आ० लो०	–	ध्वन्यालोक लोचन
नि०	–	निरुक्त
ने० तं०	–	नेत्रतन्त्र
नै० च०	–	नैषधीयचरितम्
न्या० द०, वा० भा०	–	न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य
न्या० भा०	–	न्याय भाष्य
न्या० सू०	–	न्यायसूत्र
प० सा०, टी०	–	परमार्थसार, टीका
पा० यो० द०, सू०	–	पातञ्जलि योदर्शन, सूत्र
परा प्रा०	–	परा प्रावेशिका
परा त्रिं०, वि०	–	परा त्रिंशिका, विवरण
प्र० द०	–	प्रत्यभिज्ञादर्शनम्
प्र० हृ०, टी०, सू०	–	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, टीका, सूत्र
बृहद् उप०	–	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० सू०, भा० द०	–	बृहस्पतिसूत्र, भारतीय दर्शन

बो० पं०	–	बोधपञ्चदशिका
बौ० ध० सू०	–	बौधायन धर्मसूत्र
ब्र० सू०, शां० भा०	–	ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य
वि० चू०	–	विवेक चूड़ामणि
वि० पु०	–	विष्णु पुराण
वि० भै० वि०	–	विज्ञान भैरव विवृति
व्या० भा०	–	व्यास भाष्य
व्या० स्मृ०	–	व्यास स्मृति
भ० गी०	–	भगवद्गीता
भा०	–	भाग
भा० पु०	–	भागवत् पुराण
भै० स्तो०	–	भैरव स्तोत्र
म० पु०	–	मत्स्य पुराण
म० भा०	–	महाभारत
म० भा०, व० प०	–	महाभारत वनपर्व
म० स्मृ०	–	मनु स्मृति
मा० च० वि०	–	मातृकाचक्र विवेक
मा० वि० तं०	–	मालिनी विजय तन्त्रम्
मा० वि० वा०	–	मालिनीविजयवार्त्तिकम्
मुण्ड० उप०	–	मुण्डकोपनिषद्
मं० श्लो०	–	मंगल श्लोक
महा० मं०	–	महार्थमञ्जरी
या० स्मृ०	–	याज्ञवल्क्य स्मृति
यो० भा०	–	योगभाष्य

यो० सू०	–	योगसूत्रम्
रा० त०	–	राजतरंगिणी
रघु०	–	रघुवंशम्
शा० ति० टी०	–	शारदातिलक टीका
शा० दी०	–	शास्त्र दीपिका
शा० परा०	–	शास्त्रपरामर्श
शि० दृ०, वृ०	–	शिवदृष्टि, वृत्ति
शि० म० स्तो०	–	शिवमहिम्ना स्तोत्र
शि० सू०	–	शिवसूत्रम्
शि० सू०, वि०	–	शिवसूत्र विमर्शिनी
शि० स्तो०	–	शिवस्तोत्रावली
श्लो०	–	श्लोक
श्लो० वा०	–	श्लोकवार्त्तिकम्
श्वेत० उप०	–	श्वेताश्वतरोपनिषद्
षद् त्रिं० त० सं०	–	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह
षड् द० सं०	–	षड्दर्शनसंग्रह
स० द० सं०	–	सर्वदर्शनसंग्रह
स० सि० सं०	–	सर्वसिद्धान्तसंग्रह
सि० कौ०	–	सिद्धान्त कौमुदी
सि० महा०	–	सिद्धमहारहस्यम्
सू०	–	सूत्र
सौ० नं०	–	सौन्दरानन्द
सौ० ल०	–	सौन्दर्यलहरी
सां० का०	–	सांख्य कारिका

सां० का०, गौ० भा०	–	सांख्यकारिका, गौड़पाद भाष्य
सां० द०	–	सांख्य दर्शनम्
सां० प्र० भा०	–	सांख्य प्रवचन भाष्य
सं० सि०	–	सम्बन्धसिद्धि
सां० सू०	–	सांख्यसूत्रम्
स्प० का०, वि०	–	स्पन्दकारिका, विवृति
स्प० नि०	–	स्पन्द निर्णय
स्वच्छ० तं०	–	स्वच्छन्द तन्त्रम्

★ ★ ★

*भगवतीं श्रीशारदां परमाद्वैतामृतरसनिष्यन्दिनीम् वन्दे काश्मीरपुरवासिनीम्।
यत्कारुण्यलवेनैव लभते तदाश्रिजनो अभीष्टसिद्धिम् परमकल्याणकारिणीम्।।*

प्राक्कथन

श्री परा भगवती त्रिपुरसुन्दरी शारदा देवी की पावन चरणकमलरज से अधिष्ठित शारदा देश सुर–मुनि–सिद्ध–तपस्वी–योगी एवं महापुरुषों का सतत प्रमुख तपोस्थल एवं साधना–केन्द्र रहा है। यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अपने मर्मस्थल (हृदय) में परमाद्वैत–अमृत–ज्ञान–रस को संजोये हुये है, जिसके सेवन से परमानन्द (परमार्थ, मोक्ष) की प्राप्ति सहजतः हो जाती है। आत्म–महेश्वर का प्रत्यभिज्ञान (Recognition of the Real-self) सुलभ हो जाता है। त्रिविध तापों की शान्ति, आवागमन चक्र से मुक्ति, संसार में रहते हुये भी महेश्वरता की सतत अनुभूति होती है। प्राप्तव्य की प्राप्ति एवं ज्ञातव्य का ज्ञान और पूर्ण स्वातन्त्र्य का स्फुरण होने लगता है।

ऐसे परम पवित्र कश्मीर देश के हृदयस्वरूप भगवती श्रीपराविद्या के अनुग्रह से सुर–दुर्लभ मानव–तन पाकर शैशव काल से ही मुझ पर अध्यात्मज्ञान के संस्कारों का प्रभाव रहा। बाल्यावस्था की अबोधता एवं कुमारावस्था की चञ्चलता को पार करने के साथ–साथ, यौवन की मादकता के मध्य स्नातक एवं एम. ए. स्तर की शिक्षा प्राप्ति पश्चात्, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया, तो अन्य विषयों के मध्य 'दर्शन' को भी विशेषरूप से पढ़ने का सुअवसर मिला। आध्यात्मिक संस्कारों में उथल–पुथल होने लगी, परन्तु उनका सम्यक् रूप से प्रस्फुटन नहीं हो सका। परमादरणीया प्रोफैसर कौशल्या वल्ली जी के सफल निर्देशन में एम. फिल. एवं पी. उच. डी. की उपाधि शोधकार्य के परितोष में मिली। उसके साथ ही लेक्चरर बनने से इसी विभाग में एम. ए., एम. फिल., पी. एच. डी. के विद्यार्थियों को 'दर्शन' पढ़ाने एवं निर्देशन करने का माहेश्वर शक्तिपात भी हुआ है। समय के अनुसार पदोन्नति हुई एवं चलती रहेगी। शोध परम्परा की अविरल पावन धारा सर्वजन मंगलहेतु प्रवाहार्थ विनम्र विनय करता हूँ।

प्रस्तुत शोधकार्य के प्रथम अध्याय में 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' के लेखक आचार्य उत्पलदेव का जीवन परिचय एवं कृतियाँ दी गई हैं। यद्यपि आचार्य के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है, तथापि अन्तः बाह्य साक्ष्यों के आधार पर उनके व्यक्तित्व का संक्षिप्त, सारगर्भित एवं उपयुक्त मन्थन किया गया है। इनकी कृतियों में प्रतिपादित यथासम्भव लघुरूप में युक्तिसंगत तथा सहज बोधगम्य सारतत्त्व निरूपित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में सांख्यकारिका के रचयिता आचार्य ईश्वरकृष्ण का जीवन परिचय, व्यक्तित्व एवं उनकी रचना के सम्बन्ध में परिचय दिया गया है। इसी के साथ सांख्यकारिका पर रचित भाष्यों के विषय में भी परिचय दिया गया है।

तृतीय अध्याय में प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का सामान्य परिचय दिया गया है। इसमें प्रत्यभिज्ञा का नामकरण, परिभाषा, प्रयोजन, आवश्यकता, परमसत्ता का स्वरूप, विश्व-प्रक्रिया, तत्त्व विचार, बन्ध-मोक्ष, उपाय एवं शक्तिपातादि के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसमें सांख्य परिभाषा, प्रकृति-पुरुष, महदादि पृथिवीपर्यन्त तत्त्व, त्रिविध गुण, बन्ध-मोक्ष, ईश्वर इत्यादि के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

पञ्चम अध्याय में ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और सांख्यकारिका में संकलित सामग्री की दार्शनिक समीक्षा की गई है। दोनों दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय परमसत्ता, जगत्, तत्त्व, बन्ध-मोक्ष, उपाय इत्यादि का तुलनात्मक परीक्षण किया गया है। इनकी व्यावहारिक युक्तिसंगता पर विचार किया गया है।

षष्ठम अध्याय में भारतीय दर्शनों में प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का स्थान नियत किया गया है। अन्य दर्शनों की परमसत्ता अथवा आत्मा, बन्ध-मोक्ष एवं जगत्-विषयक मान्यताओं का विश्लेषण करके प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का स्थान सर्वोपरि सिद्ध किया गया है।

सप्तम अध्याय में सांख्य दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का निष्कर्ष देकर वर्तमान समय में इनकी व्यावहारिक उपयोगिता, महत्ता एवं उद्देश्य का सारगर्भित निरूपण किया गया है।

दर्शन शास्त्र एक अतीव गहन व गम्भीर विषय है। यह साधारण मस्तिष्क के कार्य क्षेत्र के बाह्य है अर्थात् वैसे तो सभी प्राणी प्रतिभाशक्ति से सम्पन्न हैं

और सभी कार्य उसी से निष्पन्न होते हैं,[1] परन्तु साधारण प्राणियों में यह पूर्ण विकसित न होने से वे इसके माहात्म्य से अनभिज्ञ ही रहते हैं। जिस किसी क्षेत्र, प्राणी अथवा वस्तु में कोई उत्कर्ष देखा जाता है, वह सब प्रतिभाशक्ति के ही किसी अंश में विकास का फल होता है। जिनमें इसका पूर्णरूप से प्राकट्य हो जाताहै, वह इच्छा के स्वातन्त्र्य से युक्त हो जाता है और जो चाहे जान सकता एवं कर सकता है।[2] परन्तु दर्शन शास्त्र से अभिप्रेय दृष्टिकोण, सिद्धान्त, ज्ञान-विज्ञान (दर्शन) किसी वस्तु के तात्त्विकस्वरूप का साक्षात्कार होता है, जो साधारण प्राणी की पहुँच का विषय नहीं। एक सुविकसित प्रतिभा वाला सिद्ध महापुरुष ही इस कार्य (साक्षात्कार) में समर्थ होता है। अतः ऐसे दर्शन को ही सर्वथा तर्कसंगत, उपादेय एवं सर्वतोमुखी कल्याण के लिये प्रामाणिक माना जा सकता है, जिसका आनुभविक एवं वक्ता (उपदेष्टा) आप्त महापुरुष हो।

सांख्य दर्शन के मूल प्रवर्तक सिद्ध पुरुष परमर्षि कपिल रहे हैं,[3] जिनसे आसुरि, पञ्चशिखादि आचार्यों की परम्परा से ईश्वरकृष्ण ने ज्ञान प्राप्त करके सांख्यकारिका के रूप में निबद्ध किया।[4] प्रत्यभिज्ञा दर्शन (काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन) के मूल प्रवर्तक साक्षात् परमशिव-पराशक्ति हैं, जिन्होंने परस्पर संवादरूप से परा-पश्यन्ती-मध्यमा एवं वैखरी के स्थूलतम आभासरूप में अन्तः स्थित नित्य ज्ञान को जगत्-कल्याणार्थ प्रकट किया, जो आगम साहित्य के रूप में जाना जाता है। कालक्षेप से उस ज्ञान के लुप्त होने पर पुनः श्रीकण्ठनाथ के अवताररूप में ऊर्ध्वरेता सिद्ध दुर्वासा एवं उसके मानसिक पुत्र त्र्यम्बकादि की परम्परा से सिद्ध सोमानन्द[5] एवं स्वयं वसुगुप्त[6] पर्यन्त प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्षरूप से संक्रमित किया। इसी ज्ञान को एक ओर भट्ट श्रीकल्लट और दूसरी ओर उत्पलदेवाचार्य ने गुरु-परम्परा से प्राप्त किया। आचार्य उत्पलदेव ने

---

1. "प्रातिभाद्वा सर्वम्।" -पा० यो० द०, 3/33
2. (क) "इत्थं प्रातिभविज्ञानं किं किं वास्य न साधयेत्।
   यत्प्रातिभाद्वा सर्वं चेत्यूचे शेषमहामुनिः।" - तं० आ० आह०, 13/95
   (ख) "इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।" -शि० सू०, 1/13
3. "अग्निः सः कपिलो नाम सांख्ययोग प्रवर्तकः।" -महा० भा०, व० प०, -22/21
4. "पुरुषार्थं ज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा - मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
   आसुरिरपि पञ्चशिखाय - शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन।" -सां० का०, 69-72
5. "न स्वबुद्धया शिवो दाता शिवो भोक्तेति शास्त्रतः।" -शि० दृ०, 7/106
6. "श्रीमान् वसुगुप्तनामा गुरुः - द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि इत्याशयतः अनुजिघृक्षापरेण परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्मिषितप्रतिभः कृतः।" -शि० सू० वि०, पृ० 4, 5

इस रहस्य ज्ञान को अपनी प्रसिद्ध रचना "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा" में सम्यक् उन्मीलित किया है।[7] इस प्रकार, दोनों दर्शनों के वक्ता आप्त हैं, अत: ये प्रामाणिक हैं।

चूँकि दोनों दर्शनों की उपलब्ध रचनायें संस्कृत भाषा में है, जो जन सामान्य की इस समय बोलचाल की माध्यम नहीं हैं। इसीलिये, सर्वजनहितार्थ इन दोनों के तथ्यों को राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रस्तुत करने का लघु प्रयास किया है, ताकि इन महान् दर्शनों के ज्ञान से सभी लाभान्वित हो सकें।

यद्यपि सांख्य एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शनों पर पहले भी न्यूनाधिकरूप में शोधकार्य हो चुका है, तथापि ज्ञान तो अनन्तरूप है और इसीलिये ब्रह्मरूप माना गया है। जो सत्य होता है, वही शिवरूप होता है एवं जो शिव (मंगल) रूप होता है, वही सुन्दर होता है, सतत नवीनता का स्रोत होता है। अतएव इन सत्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन, विश्लेषण एवं व्याख्यान-समीक्षण में सदैव नवीनता का परिचय मिलना सहज सम्भावित है। यहाँ किसी शरीरआदि अनात्मरूप के बाह्य सौन्दर्य की चर्चा नहीं है, प्रत्युत् उस सर्वान्तरात्मा विषयक है, जो सब का आधार है। यही कारण है कि परमसत्ता (Ultimate Reality) भगवती को 'त्रिपुरसुन्दरी' कहा जाता है, क्योंकि एक ओर तो वह परमार्थ सत्य है, इसीलिये मंगलकारी एवं सुन्दर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट प्रिय है। दूसरी ओर, कारण-सूक्ष्म-स्थूल समस्त प्रपञ्च एवं शरीर (त्रिपुर) की आधार, नियन्त्रिका, जीवनीशक्ति एवं परमार्थसम्पदा (सुन्दरी) है। इसी से जगत् का उदय, स्थिति एवं संहार होता है– यह सभी के अनुभव का तथ्य है।[8] बुद्धिमान् लोग इस सच्चाई को जानते हैं, परन्तु मूर्खजन अनभिज्ञ ही रहते हैं। ज्ञान-क्रियादि अनन्त शक्तियों से समन्वित परमसत्ता (परासंवित्, पराचिति, पराशक्ति) ही सभी की आत्मा होने पर भी, सहस्रों समुज्ज्वल तर्कों द्वारा समझाने पर भी उनके विश्वास का विषय नहीं बनती है। इसीलिये पास होते हुये भी अर्थात् अपना ही स्वरूप होने पर भी उसी प्रकार पकड़ में नहीं आती, जिस प्रकार मन्दभाग्य के हाथ में पड़ी हुई भी अतिमूल्यवान् मणि छूट जाती है। इसीलिये इसकी अनुभूति के लिये इसकी प्रत्यभिज्ञा का होना अत्यावश्यक है।[9] उत्पलदेवाचार्य ने इसीलिये 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' संज्ञक अपनी महत्त्वपूर्ण रचना में परमसत्ता की पहचान के सरल उपाय का विवेचन

---

7. "प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।"
--ई० प्र० का०, 4/16

8. "अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति, इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी।" –प्र० हृ० टी०, सू०

किया है। उनका कथन है कि यद्यपि परमसत्ता (परमेश्वर) चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान- क्रियादिरूप अनन्त शक्तियों से समन्वित चैतन्य सत्ता है, नित्य और आदिसिद्ध है, तथापि माया के आवरण के कारण नित्य भास्वररूप होने पर भी अनुभव में नहीं आती है। तात्पर्य यह है कि प्राणी माया शक्ति के प्रभाव के कारण अपने वास्तविक सर्वैश्वर्यसम्पन्न उत्कृष्टरूप को पहचान नहीं पाता है। अनात्मरूप स्थूलादि शरीरों में आत्मबुद्धि कर लेता है। चूँकि ये शरीरादि तो प्रकृति के ही विकाररूप होते हैं, इसलिये इनमें सुख-दुःख-मोहादि का होना स्वाभाविक है। पुरुष अपने परमानन्दस्वरूप को भूलकर शरीरादि के धर्मों को अपना धर्म मानने लगता है। फलतः कष्ट पाता है। शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप नाना योनियों एवं लोकों में भटकता रहता है। जब तक अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान नहीं होती, भवचक्र के बन्धन में पड़ा रहता है। इसीलिये, उत्पलदेवाचार्य ने अपने आत्म-परमेश्वर की पहचान के लिये उसकी अबाधित इच्छादि शक्तियों के अनुसन्धान पर बल दिया है। जब अपनी सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वादि शक्तियों की अनुभूति हो जाती है, तो हीन दशा (पशु, जीव, बद्ध अवस्था, जिसमें किसी भी प्रकार का स्वातन्त्र्य नहीं रहता अर्थात् शक्तियाँ सीमितरूप में कार्य करती हैं) एक महान् माहेश्वर्य में परिवर्तित हो जाती है। शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। सभी को ऐसी शिवात्मा की प्रत्यभिज्ञा सुलभ हो सके, इसीलिये यथामति आप्तसिद्धों के ज्ञान को इन रचनाओं के स्वाध्याय के आधार पर सरलरूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है, जिससे सब का मंगल हो। तथापि मानव-मस्तिष्क-सुलभ त्रुटियों का रह जाना बहुत सम्भव है, जिसके लिये विनम्र क्षमा प्रार्थी हूँ। भगवती की अथाह कृपास्वरूप का ही परिचायक यह लघु शोधकार्य सभी के लिये शिवमय हो।

इस शोधकार्य के सुचारुरूप से सम्पादन हेतु जिन-जिन महानुभावों, विद्वानों एवं महापुरुषों की कृतियों से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप से लाभ उठाया गया है, उनके लिये सादर विनम्र हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। विभागीय संस्कृत पुस्तकालय, श्रीरणवीर केन्द्रीय संस्कृत अनुसन्धान पुस्तकालय इत्यादि के कर्मचारियों का भी धन्यवाद है। विभाग के प्राध्यापकवर्गवर्य, सहपाठी शोध छात्र, कर्मचारीवर्ग सभी का

---

९. "समुज्ज्वलन्न्यायसहस्रसाधितोऽप्युपैति सिद्धिं न विमूढचेतसाम्।
महेश्वरः पाणितलस्थितोऽपिसन् पलायते दैवहतस्य सन्मणिः।।
स्वात्मैवायं स्फुरति सकल प्राणिनामीश्वरोऽन्तः कर्ता ज्ञातापि च।
यदि परं प्रत्यभिज्ञास्य साध्या।।" –ई० सि०, 55, 56

विनम्र अभिनन्दन है। प्रोफेसर कौशल्यावल्ली, वेद कुमारी घई, रामप्रताप, शम्भुनाथ, महेश शर्मा, शारदागुप्ता, रमणीका जलाली सहित विद्वद्वर्य प्रोफेसर देवव्रत सेन, मानसिंह, अभिमन्यु, पुष्पेन्द्र कुमार, धनराज शर्मा, पण्डित बलजिन्नाथ, ब्रजवल्लभ द्विवेदी आदि पुनः वन्दित हैं। प्रेस मालिक स. जोगिन्द्र सिंह का भी आभार प्रकट है।

परमपूज्य जन्मदाता शिव-पार्वती स्वरूप पिता श्रीमंगल सिंह, माता श्रीमती गणेशदेवी शतशः वन्दित हैं। भाई सुलक्षण, करनैल, हजूर, अमरीक सिंह, बहिनें स्वर्णी, धर्मा, जगीरो देवी एवं मित्रवर्य अनिल वर्मा तथा परम शुभचिन्तका श्रीमती तारा देवी, ध्यानचन्द, महेन्द्रपाल, कुलभूषण शर्मा एवं करतार चन्द शर्मा का अभिनन्दन है। परमप्रेयसी सत्यभामा एवं भगवती आशीर्वादरूप जय भवानी सिंह तथा जयश्री देवी शक्तिपात अनुगृहीत रहें। सद्गुरु श्री अच्युतानन्द जी महाराज, परमगुरु शंकरानन्दपाद, आद्यगुरु शंकराचार्यवर्य के चरणविन्दों में प्रणामपूर्वक इस शोधकार्य को सादर पराशक्ति के चरण-कमलों में जगत्-कल्याणार्थ विनम्र समर्पित सहित-

विनीत,

जयानन्दन

जगीर सिंह

जनवरी, 2000

संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू।

प्रथम अध्याय

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार – उत्पलदेव

जीवन परिचय

आचार्य उत्पलदेव प्रत्याभिज्ञा सिद्धान्त के व्याख्याता के रूप में अतिप्रसिद्ध माने जाते रहे हैं।[1] इन्होंने अपनी वंशावली अथवा स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। सम्भवतया इनका अत्युच्च अध्यात्म जीवन एवं व्यक्तित्व इन सांसारिक उपाधियों के चिन्तन–मनन अथवा कथन में अभिरुचि नहीं रखता था। मात्र एक आत्म–परमेश्वर के तन्मयता से गुणगान, दर्शन एवं वर्णन में ही इनको अभिरुचि थी। वास्तव में महापुरुषों का जीवन ही परोपकार के लिये होता है। त्र्यम्बक सम्प्रदाय में एक उज्ज्वल रत्न की भाँति शुद्ध चरित्र, महान् अद्वैत शैव दर्शनाचार्य, सोमानन्द इनके गुरु थे,[2] जिनको प्रत्यभिज्ञा दर्शन का संस्थापक माना जाता है।[3] उत्पलदेव ने स्वयं अपनी कृतियों में सोमानन्द को "गुरु" एवं "महागुरु" के रूप में आदरपूर्वक स्मरण[4] किया है। इन्होंने अपने पिता का नाम

---

1. "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारो वन्द्याभिधानः श्रीमदुत्पलदेवाचार्योऽस्मत्परमेष्ठी सततसाक्षात्कृतस्वात्म-महेश्वरः।" –शि० स्तो० टी०, पृ० 1

2. "..... तर्को योगांगमुत्तमम् ..... परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञानपरस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च परं नमस्कर्तव्या–
श्रीसोमानन्दबोधश्रीमदुत्पलविनिःसृताः।
जयन्ति संविदामोदसन्दर्भा दिक्प्रसारिणः।।" –तं० आ० वि०, 1-10

3. "श्रीत्र्यम्बकसद्वंशमध्यमुक्तामयस्थिते। श्रीसोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम्।।" –ई० प्र० वि०, वि०, मं० श्लो० 2

4. (अ) "ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते। शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसंगतिम्।।" –शि० दृ० वृ०, मं० श्लो० 3

   (आ) "इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।।" –ई० प्र० का०, 4/16

"उदयाकर" बतलाया है,[5] परन्तु अभिनवगुप्त जैसे महान् विद्वान् ने तन्त्रालोक में इनको सोमानन्द का ही पुत्र एवं शिष्य होना अभिव्यक्त किया है।[6] अतः सम्भव है कि उदयाकर की ही सोमानन्द के रूप में प्रसिद्धि रही हो। अपनी योग्यता और साधना के बल पर ही उत्पलदेव अपने योग्य गुरु के उत्तराधिकारी बने और प्रसिद्ध अद्वैत शैवाचार्यों में प्रमुख स्थान प्राप्त किया।[7] लक्ष्मणगुप्त इनका पुत्र एवं प्रधान शिष्य था,[8] जो इनका उत्तराधिकारी भी था। स्वयं उत्पलदेव ने विभ्रमाकर नामक अपने पुत्र का उल्लेख किया है और अपने सहपाठी गुरुभाई पद्मानन्द का वर्णन किया है, जिन दोनों के विनम्र आग्रह पर इन्होंने शिवदृष्टि पर वृत्ति लिखी थी।[9] इनकी माता, बहिन-भाई अथवा बान्धवों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है, परन्तु अपनी प्रसिद्ध भक्ति-प्रधान कृति शिवस्तोत्रावली में इन्होंने शिव-पार्वती को ही अपने माता-पिता, बन्धु-सखा माना है, जो निःसंदिग्ध रूप में इनके जीवन के पूर्ण ईश्वर-समर्पण का द्योतक है।[10] राजानक श्रीरामकण्ठ भी इनके योग्य शिष्य थे, जिन्होंने इनके महान् ज्ञान का अपनी कृतियों के माध्यम से प्रचार-प्रसार किया।[11] विशेषकर स्पन्द शास्त्र विषयक इनकी धारणा का व्याख्यान किया।[12]

यद्यपि उत्पलदेव ने अपने स्थिति काल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है, तथापि राजतरंगिणी एवं अन्य प्रामाणिक कृतियों के विवरण से इनसे सम्बन्धित दूसरे आचार्यों का समय निश्चित् हो जाने से इनका काल भी सुगमता से अनुमानित किया जा सकता है। क्योंकि अतिप्रसिद्ध शैवाचार्य अभिनवगुप्त के गुरुओं में दो गुरु

---

5. "जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना। ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।।"
 –ई० प्र० का० 4/18
6. "त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः।"
 –तं० आ०, आह० 37, श्लो० 61
7. "श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं) सोमानन्दं तथोत्पलाचार्यम्। लक्ष्मणमभिनवगुप्तं वन्दे श्रीक्षेमराजं च।।" –शा० ति० टी०, श्लो० 3, पृ० 7
8. द्रष्टव्य पाद टिप्पणी 6, 7
9. "विभ्रमाकरसंज्ञेन स्वपुत्रेणास्मि चोदितः। पद्मानन्दाभिधानेन तथा सब्रह्मचारिणा।।"
 –शि० दृ० वृ०, मं० श्लो० 2
10. "अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ त्र्यम्बकोऽथ जननी च भवानी। न द्वितीय इह कोऽपि ममास्तीत्येव निर्वृततमो विचरेयम्।।" –शि० स्तो० 19/17
11. "सद्विद्यासरसीविभूषणवरस्फारोत्पलोश्चाशयप्रोत्सर्पत्परिपक्वबोधमधुपेनेदं मयागावि यत्। रामेणानुपमप्रमोदमधुरं बद्धावधानस्य तच्छ्रोतुः कस्य न चेतनस्य तनुते विश्रान्तिमन्तः पराम्।।" –स्प० का० वि०, पृ० 167, श्लो० 2
12. "परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्दः।" –तदेव, मं० श्लो० 1

– लक्ष्मणगुप्त तथा भट्टेन्दुराज – दो पृथक्-पृथक् गुरु परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं।[13] भट्टेन्दुराज के गुरु मुकुलभट्ट[14] थे, जो पुनः भट्ट कल्लट के पुत्र थे।[15] इसी प्रकार त्र्यम्बक सद्वंशी सोमानन्द के पुत्र उत्पलदेव के पुत्र एवं शिष्य लक्ष्मणगुप्तनाथ थे।[16] अभिनवगुप्त तथा सोमानन्द में और भट्टकल्लट तथा अभिनवगुप्त में दो पीढ़ियों का अन्तर है। भट्ट कल्लट सिद्ध वसुगुप्त के शिष्य थे,[17] जिन्हें श्रीकण्ठ (शिव) से ज्ञान प्राप्त हुआ था।[18]

श्रीकण्ठ (शिव)

वसुगुप्त

800 ई० प०

सोमानन्द	825 ई० प०	भट्टकल्लट
उत्पलदेव	850 ई० प०	भट्ट मुकुल
लक्ष्मणगुप्त एवं राजानकरामकण्ठ, उत्पल वैष्णव	875 ई० प०	भट्टेन्दु राज
अभिनवगुप्त	900 ई० प०	अभिनवगुप्त
क्षेमराज	925 ई० प०	क्षेमराज

---

13. (क) "भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।"
–ध्व० आ०, मं० श्लो०
(ख) "तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदि प्रत्यभिज्ञोपदेशिनः। श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्यगुरोर्विजयते वचः।।"
–मा० वि० वा०, मं० श्लो० 2
14. "श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्तिवल्यालबालात्।
काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात् कौंकणः श्रीन्दुराजः।।" –का० अलं० सा०, 86
15. "भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता। सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका।।"
–अभि० वृ० मा०, अन्ते, श्लो० 2
16. "त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथाः।"
–तं० आ०, आह्र० 37 श्लो० 61
17. (क) "वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः। रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः।।"
–स्प० प्र०, अन्ते
(ख) "वसुगुप्तनामागुरुःएतानि (शिवसूत्राणि) च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान्।" –शि० सू० वि०, पृ० 3
18. "श्रीकण्ठं वसुमन्तं (वसुगुप्तं)— वन्दे श्रीक्षेमराजं च।।" –शा० ति० टी०, पृ० 7, श्लो० 3

भट्ट कल्लट के सम्बन्ध में कल्हणकृत राजतरंगिणी में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि विश्व कल्याण हेतु भट्ट कल्लट आदि सिद्ध राजा अवन्तिवर्मण के राज्यकाल में अवतरित हुये थे।[19] अवन्तिवर्मण का राज्यकाल 855 (56) – 883 (84) ई० प० होना ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है।[20] अतः भट्ट कल्लट– जो कि उसके राज्य में एक सिद्ध पुरुष के रूप में विख्यात थे– अवश्य ही उससे 25 - 30 वर्ष पूर्व से ही विद्यमान रह रहे होंगे। अतः यदि भट्टकल्लट का स्थितिकाल 825 ई० प० के लगभग से माना जाये, तो भारतीय परम्परा अनुसार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण काल को 25 वर्ष देने से पूर्व निर्दिष्ट तालिका अनुसार उत्पलदेव का स्थिति काल 850 - 950 ई० प० सम्भावित होता है। दूसरे, अभिनवगुप्त ने अपनी कृतियों ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी,[21] क्रम स्तोत्र,[22] भैरव स्तोत्र[23] का रचना काल क्रमशः 1014, 990, 992 ई० प० बताया है एवं परात्रिंशिका विवरण (जोकि उन्होंने अपने प्रिय अनुज मनोरथ गुप्त, रामदेव एवं कश्मीर के राजा यशस्कर के प्रधान अमात्य के पुत्र कर्ण की प्रार्थना पर लिखा था[24]) के रचनाकाल (जो स्पष्टतया राजा यशस्कर 939 - 948 ई० प० के समय अनुसार ही है[25]) से भी इंगित होता है कि उसका स्थितिकाल लगभग 900 ई० प० रहा होगा। अतः इससे भी गुरु-परम्परा अनुसार उत्पलदेव का स्थितिकाल 850 - 950 ई० प० ही अनुमानित होता है। उत्पलदेव की रचना शिवस्तोत्रावली में वर्णित भावों से स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि वह दीर्घजीवी थे। इन्होंने शैशव, कुमारपन, यौवन और वार्धक्य– चारों अवस्थाओं का गहन अनुभव किया था। वार्धक्य में इनका शरीर

---

19. "अनुग्रहाय लोकानां भट्टाःश्रीकल्लटादयः। अविन्तवर्मणः काले सिद्धाः भुवमवातरन्।।" –रा० त०, 5-66

20. द्रष्टव्य कल्हणकृत राजतरंगिणी, पृ० 187 (एम. ए. स्टीन द्वारा अनूदित, भाग 1)

21. "इति नवतितमेऽस्मिन् संवत्सरेऽन्त्ये युगांशे, तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने। जगति विहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां, व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः।।" (कलिसंवत् 4115 - सप्तर्षि संवत् 25= 4090 - 3076 = 1014 ई० प०) –ई० प्र० वि० वि०, 4/4

22. "षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽह्नि। मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः।।" (सप्तर्षिसंवत् 4066 - 3076 = 990 ई० प०) –क्र० स्तो०

23. "वसुरस पौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत्।" (लौकिकसंवत् 4068 - 3076 = 992 ई० प०) –भै० स्तो०, अन्ते

24. द्रष्टव्य परा० त्रिं: वि०, पृ० 279, 80

25. द्रष्टव्य रा० त०, पृ० 236, भा० 1

दुबला-पतला श्वेत बालों वाला हो गया था, यद्यपि यौवन में वह बलिष्ठ और हृष्ट-पुष्ट शारीरिक गठन वाले थे।[26]

वह एक बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न धार्मिक व्यक्तित्व थे। शिव की अद्वैत पराभक्ति से परिपूर्ण होने पर भी निरभिमानी सेवक थे। परन्तु भक्त होते हुये भी वह अनन्य ज्ञानी थे। अतः भक्तियुक्त अद्वैत ज्ञान ही इनको अभिप्रेय था, शुष्क ज्ञान नहीं।[27] अपनी साधना दशा में भी यह कट्टर अद्वैती ही थे और इन्होंने शैवी साधना के परम लक्ष्य-जीवन-मुक्ति की तो प्राप्ति की ही थी, अपनी विदेह मुक्ति का भी इन्होंने अपनी सूक्ष्मान्वीक्षिणी प्रतिभा से साक्षात्कार कर लिया था।[28] इनका आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तों की श्रेणियों में सर्वोच्च निष्काम विशुद्ध प्रेमी के रूप में भक्तिभाव था। प्रत्युत् परमेश्वर से भी बढ़कर उसकी भक्ति को ही श्रेय देते थे। आत्मा और परमात्मा की एकता के सफल प्रतिपादक थे। अद्वैतभाव तो इनकी रग-रग में समाया हुआ था। अद्वैत परा-पूजा के समक्ष त्रिलोकी के राज्य को अति तुच्छ मानते थे।[29] वह पत्र-पुष्प, धूप-दीप इत्यादि के रूप में की जाने वाली बाह्य-पूजा में विश्वास नहीं करते थे। आत्म-परमेश्वर की प्रत्यभिज्ञा एवं उसकी पूर्णाहन्ता का सतत विमर्श छत्तीस तत्त्वों के क्रिया-कलापों के रूप में एक परमेश्वर का ही लीला-उल्लास मानते हुये- इसी को परम पूजा और ऐसी पूजा के सम्पादक के रूप मेंअपने को परमपूजक मानते थे। सारांशतः इनकी दृष्टि में मन-वाणी और क्रिया रूप में होने वाले सभी भावों में एक परमेश्वर का ही लीला-विलास मानना, सर्वत्र उनकी शक्तियों का ही विकास देखना यथार्थ पूजा है।[30]

---

26. "मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि जरादिदोषभीतोऽस्मि शक्तिरहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि। शम्भो तथा कलय शीघ्रमुपैमि येन सर्वोत्तमां धुरमपोज्झितदुःखमार्गः।।" -शि० स्तो० 11/8

27. (क) "शुष्कक मा सिद्धेय नैव मुच्येय वापि तु। स्वादिष्ठपरकाष्ठाप्तत्वद्भक्तिरसनिर्भरः।।" -शि० स्तो०, 16/4

    (ख) "न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकांक्षी त्वदर्चकः। भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः।।" -शि० स्तो०, 15/4

28. "मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो। तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः।।" -शि० स्तो०, 16/9

29. "अप्युपार्जितमहं त्रिषु लोकेष्वाधिपत्यममरेश्वर मन्ये। नीरसं तदखिलं भवदङ्घ्रिस्पर्शनामृतरसेन विहीनम्।।" -शि० स्तो०, 4/3

30. "त्वद्धाम्नि चिन्मये स्थित्वा षट्त्रिंशत्तत्त्वकर्मभिः। कायवाक्चित्तचेष्टाद्यैरर्चये त्वां सदा विभो।।" -शि० स्तो०, 17/11

परमसत्ता अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिये आगम सम्मत अनुपाय, शाम्भव, शाक्त और आणव उपायों को मानते हुये भी उत्कृष्ट साधक होने के कारण "अनुपाय" पर ही अधिक बल देते थे, जिससे महेश्वर शक्तिपातवश सद्यःमहेश्वरता लाभ की प्राप्ति सतत बनी रहती है।[31] इनको अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि सांसारिक सिद्धियों के ऐश्वर्य की किञ्चित् भी अभिलाषा नहीं थी। इनके मत में भक्ति-लक्ष्मी से सम्पन्न के समान कोई धनवान् (ऐश्वर्यवान्) नहीं होता है एवं इससे रहित के समान कोई दरिद्र नहीं होता।[32] वह केवल अद्वैत सिद्धि को ही भोग-मोक्ष का मूल स्रोत मानते थे। जिसमें दुःख भी सुखरूप हो जाते हैं, विष भी अमृत बन जाता है, संसार भी मोक्षरूप हो जाता है- ऐसे परम कल्याणकारी आत्म-परमेश्वर के प्रत्यभिज्ञान के समर्थक थे।[33] अपने जीवन काल में यह विरक्त दशा में भी रहे और एक महेश्वर की भक्ति से मतवाले परमहंस भी बने।[34]

क्षेमराज इत्यादि प्रमुख शैवाचार्यों ने इन्हें प्रत्यभिज्ञाकार, सतत आत्म-परमेश्वर साक्षात्कृत एवं पूर्ण सिद्ध गुरु के रूप में अपना परमेष्ठी गुरु बतलाकर आदर प्रदर्शित किया है।[35] वह सर्वात्मदेववादी, पुराणतत्त्ववेत्ता, अवतारवादी एवं कव्युचित ज्योतिष प्रवृत्तिवान् भी थे। गम्भीर समाज चिन्तक एवं सुधारक थे। व्याकरण में भी इनको निष्ठा भी। किं बहुना - वह एक प्रकाण्ड विद्वान्, दार्शनिक, आचार्य एवं भक्त शिरोमणि थे। समस्त धर्मों, मतों एवं वेदों के रहस्य का इनको ज्ञान था। आगमों के सारतत्त्व के मर्मज्ञ थे। इनकी विद्वत्ता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इनकी एक -"ईश्वर प्रत्यभिज्ञा"- संज्ञक कृति के नाम पर ही अद्वैतशैव दर्शन का नाम -"प्रत्यभिज्ञा दर्शन"- के रूप में विख्यात है, जिसका उल्लेख

---

31. (क) "न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्। एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।"
 -शि० स्तो०, 1/1
 (ख) "स्वातन्त्र्यशक्तिमेवाधिकां पश्यन् निर्विकल्पमेव भैरवसमावेशमनुभवति।"
 -तं० सा०, पृ० 10
32. "भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्। एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्।।"
 -शि० स्तो० 20/11
33. "दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते। मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शांकरः।।"
 -तदेव, 20/12
34. "साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृतामृततर्पिताः। उन्मूलिततृषो मत्ता विचरन्ति यथारुचि।।"
 -तदेव, 12/4
35. द्रष्टव्य- शि० स्तो० टी०, पृ० 1

"सर्वदर्शनसंग्रह" में माधवाचार्य ने भी किया है। इनका समस्त जीवन शिवाद्वैत भक्ति का स्रोत बना रहा। अतः कश्मीर अद्वैतशैव आचार्यों में इनका नाम अग्रगण्य है एवं प्रेरणादायक है।

कृतियाँ

आचार्य उत्पलदेव की कश्मीर अद्वैत शैव दर्शन को प्रमुख देन इनकी कृतियाँ ही हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि नवमी शताब्दी में कश्मीर अद्वैतशैव दर्शन टूटी हुई शृंखला के पश्चात् पुनः जब शिव इच्छा से वसुगुप्त, भट्टकल्लट आदि के माध्यम से अस्तित्व में आया, तब उनकी कृतियाँ धर्म पक्ष की ही प्रधानता को संजोये हुये थीं। तत्कालीन समाज को एक तर्कसंगत वैज्ञानिक दर्शन ही प्रभावित कर सकता था, क्योंकि उस काल में प्रचलित बौद्धादि मतों में तर्क की ही प्रधानता थी। यद्यपि सोमानन्द ने शिवदृष्टि के माध्यम से एक महान् दार्शनिक कृति का पदार्पण किया था, जो उत्तरवर्ती आचार्यों के लिये प्रकाश-स्तम्भ एवं प्रेरणा-स्रोत बना रहा, परन्तु उत्पलदेव ने उसकी व्याख्या के रूप में एक उत्कट तार्किकी प्रतिभा का प्रयोग किया और शैव सम्प्रदाय के रहस्यों को विशद रूप में युक्तिपूर्वक व्याख्यात किया। इस प्रकार एक सरल, सुबोध, सर्वजनसुलभ "नवमार्ग" को उद्घाटित किया, जिससे भुवनकर्तृता (महेश्वरता) रूप शिवता की अनायास प्राप्ति होती है।[36] इनकी उपलब्ध रचनायें क्रमशः इस प्रकार हैं :-

1. शिवस्तोत्रावली

उत्पलदेवाचार्य की प्रथम और शिव भक्ति-अमृतरस प्रधान कृति शिवस्तोत्रावली है, जिसको स्तोत्रावली, उत्पलस्तोत्रावली अथवा परमेश स्तोत्रावली भी कहते हैं। इसमें कुल बीस (20) स्तोत्र हैं, जिनमें से जय स्तोत्र, संग्रह स्तोत्र और भक्ति स्तोत्र का नामकरण स्वयं उत्पलदेव द्वारा प्रदत्त माना जाता है। प्रथमतः ये स्तोत्र बिखरे पड़े थे। श्रीराम और आदित्यराज ने इनको संगृहीत किया। पश्चात् में विश्वावर्त्त ने अपनी इच्छानुसार इनके नाम रख दिये। क्षेमराज ने इस पर सफल विवृति लिखी है, जिसका श्रवण स्वयं उन्होंने अपने गुरु अभिनवगुप्त से किया था। क्षेमराज अनुसार इस पवित्र रचना की सूक्ति श्रेणी

---

36. "इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टि शास्त्रे यथा।
तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन्सिद्धयति।।"
-ई० प्र० का०, 4/16

श्रवणमात्र से संसार भय का निवारण करती है, अनुसरण से परानन्द व्याप्ति का विस्तार करने वाली एवं सर्वव्यापक शम्भू की भक्ति प्रदान करने वाली है।[37] मधुराज योगिन अनुसार यह गंगा सदृश पवित्र एवं पावन है, जिसके श्रवणमात्र से शिवधाम की प्राप्ति होती है।[38] इसमें अद्वैत शैव दर्शन के सिद्धान्तों एवं रहस्यों का सुललित भक्तिसंयुक्त काव्य में वर्णन मिलता है।

2. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका

उत्पलदेव की सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक कृति ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका है, इन्हें प्रत्यभिज्ञा सूत्र अथवा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र भी कहते हैं। इसके चार अधिकार (अध्याय) हैं– ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार, आगमाधिकार और तत्त्वार्थसंग्रहाधिकार। इनमें क्रमशः आठ, चार, दो, दो– कुल सोलह आह्निक है, जिनमें 190 कारिकायें (सूत्र) हैं। ***प्रथम अधिकार*** में आत्म-परमेश्वर को स्वतः सिद्ध, अद्वितीय, नित्य, ज्ञान और क्रियादि शक्तियों से सम्पन्न बतलाया गया है।[39] बौद्धों के क्षणिकवाद का युक्तिपूर्वक खण्डन करके आत्मा को कर्ता, ज्ञाता, स्मर्तादि अभिव्यक्त करते हुये अपोहन शक्तिमान् भी माना है।[40] मोह (माया) के प्रभाववश अपनी शक्तियों के सामर्थ्य को भूल जाना ही संसारी दशा (बद्ध, जीव, पशु अवस्था) की प्राप्ति में कारण माना गया है। उन ज्ञानादि शक्तियों के आविष्कार (अनुसन्धान) के लिये ही प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता पर बल दिया है।[41] ***द्वितीय अधिकार*** में क्रिया शक्ति की सामर्थ्य से सृष्टि विकास में "काल शक्ति" द्वारा देश-काल एवं भावों के विचित्र आभासों का उल्लेख किया है।[42] ***तृतीय अधिकार*** में आगम-सम्मत छत्तीस तत्त्वों का क्रमिक विकास, आणव-**मायीय**-कार्म मल, बन्ध-मोक्ष, पञ्च प्राण और पाञ्च जाग्रदादि

---

37. "श्रुतिपथमिता सूक्तिश्रेणी धुनोति भवातपं, निरुपमपरानन्दव्याप्तिं तनोति च तत्क्षणात्।
इयमिति विभोः शम्भोर्भक्त्या परं परमेष्ठिनो, विहितललितव्याख्यास्माभिः कृतार्थजनार्थितैः।।"
–शि० स्तो०, पृ० 355, श्लो० 2
38. "सन्त्येव सूक्तिसरितः परितः सहस्राः स्तोत्रावली सुरसरित सदृशी न काचित्।
या कर्णतीर्थमतिशय्य पुनाति पुंसः, श्रीकण्ठनाथनगरीमुपकण्ठयन्ती।।"
–शा० परा०, श्लो० 7-8
39. "कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।" –ई० प्र० का०, 1/1
40. "..... विश्वरूपो महेश्वरः ..... चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्।" –तदेव, 1/23
41. "किंतु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते। शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।।"
–तदेव, 1/3
42. "सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव।।" –तदेव, 2/2

अवस्थाओं आदि का निरूपण मिलता है। *चतुर्थ अधिकार* में पूर्व अधिकारों के सारतत्त्व का संग्रह प्रदर्शित किया है। विकल्प-क्षय से क्रमेण ईश्वरता प्राप्ति[43] एवं सर्वत्र अद्वैत की भावना-सिद्धि से विकल्पों के रहने पर भी (संसारी, द्वैत दशा में भी) महेशता (जीवन्मुक्ति, जगदानन्द) का सतत बने रहना माना है।[44] अन्त में अपने गुरु के प्रति आदरभाव व्यक्त करते हुये अपने पिता का नामोल्लेख किया है और इस कृति के प्रतिपादन का लक्ष्य आरम्भ में प्रतिज्ञा की भाँति पर्यवसान में भी सहजतया जन-कल्याण ही बताया है, जो ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा से सम्भव है।[45]

3. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका वृत्ति

यह उपर्युक्त कृति पर वृत्ति मात्र है। इसमें केवल सरल अनुवाद ही किया गया है, क्योंकि वृत्ति का लक्ष्य ही विषय में वर्तन होता है। अतः कारिका में व्यक्त भावों को समझने के लिये इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। परन्तु यह केवल तीसरे अधिकार की बीसवीं कारिका पर्यन्त ही उपलब्ध है, इसके पश्चात् की कारिकाओं पर अनुपलब्ध है।

4. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति (टीका)

इनकी इस कृति का केवल उद्धरणों से ही पता चलता है कि यह एक बृहद् काय रचना थी, जिसमें प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त की विचारधारा का विस्तार से निरूपण किया गया होगा। यह प्रत्यभिज्ञा कारिका पर बृहद् भाष्य रचना थी, जो निःसंदिग्ध रूप में अतिमहत्त्वपूर्ण रही होगी।

अभिनवगुप्त ने इन तीनों पर विमर्शिनी और विवृति विमर्शिनी भाष्य रचनायें लिखी हैं, जो विषय-गम्भीरता, अर्थस्पष्टता और तात्त्विक विवेचन की महत्ता के लिये प्रसिद्ध हैं। उत्पलदेव की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, वृत्ति और विवृति सहित अभिनवगुप्त की इन पर विमर्शिनी एवं विवृति विमर्शिनी मिलकर "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" का शास्त्र पञ्चक बनती है।[46]

---

43. "विकल्पहानेनैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्।" –तदेव, 4/11
44. "सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः। विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।" –तदेव, 4/12
45. (क) "जनस्याप्युपकारमिच्छन् – तत्प्रत्याभिज्ञामुपपादयामि।" –तदेव 1/1
    (ख) "जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना। ईश्वरप्रत्याभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।।" –तदेव, 4/18
46. "सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ। प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः।।" –स० द० सं० - प्र० द०, पृ० 349

5, 6, 7, 8, 9, 10 सिद्धित्रयी एवं वृत्तियाँ

अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि और सम्बन्ध सिद्धि– इन तीनों उत्पलदेव की रचनाओं का संयुक्त नाम "सिद्धित्रयी" कहलाता है। प्रथम पर वृत्ति अनुपलब्ध है, यद्यपि अन्यों पर उपलब्ध हैं। परन्तु इनमें लेखक की शैली बिल्कुल परम्परा से हटकर है। श्लोकों के अर्थ को सरल बनाना उनका लक्ष्य दिखाई नहीं देता, प्रत्युत् उनका सन्दर्भ-सा प्रस्तुत है, जो विषय-ग्रहण में सहायक प्रतीत नहीं होता। ये प्रत्यभिज्ञा कारिका के पश्चात् में लिखी गई है। जिस प्रकार शिवदृष्टि के 700 श्लोकों का सार उत्पलदेव ने प्रत्यभिज्ञा में 190 सूत्रों में निबद्ध कर दिया है, उसी प्रकार अति संक्षिप्त रूप में पुनः उसके भी सारांश को इसमें मात्र 104 श्लोकों में संकलित कर दिया है। इसमें क्रमशः चेतन प्रमाता और ईश्वर के अस्तित्व तथा जगत् के साथ उनके सम्बन्ध को युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। यह अपने विषय की संक्षिप्तता के लिये महत्त्वपूर्ण है।

11. शिवदृष्टि वृत्ति

यह इनकी अन्तिम और समृद्ध रचना प्रतीत होती है। इसका प्रणयन इन्होंने अपने प्रिय पुत्र एवं शिष्य विभ्रमाकर तथा सहपाठी पद्मानन्द की विनम्र प्रेरणा पर किया था। शिवदृष्टि समस्त शैवागमों एवं शिवसूत्रों के रहस्य का सार है, जिसका विशदीकरण ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के रूप में उत्पलदेव ने किया है। सोमानन्द की यह रचना कश्मीर अद्वैत दर्शन में अद्वितीय स्थान रखती है। इसमें उन्होंने परमसत्ता के चेतन-अचेतन सत्ताओं के रूप में स्थूलीकरण, वैयाकरणिकों के मत की स्थापना एवं निराकरण, शाक्तों, द्वैतवादी शैवों और योग के अनुयायिओं के मत का खण्डन, अद्वैत शैव सिद्धान्त का मण्डन, विश्व प्रक्रिया के प्रमाता और प्रमेय के स्वभाव में एकत्व प्रदर्शन किया गया है। सार्वभौम परम सत्ता के सम्बन्ध में अन्य वादों के मत की अवैधता, दैवी शक्तियों एवं मोक्ष के रहस्यादि का सफल एवं सारगर्भित प्रतिपादत किया गया है। परमेश्वर को चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान और क्रिया शक्तियों से सम्पन्न सदैव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्च कृत्यों का कर्ता माना गया है।[47] शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों, 118 भुवनों एवं समस्त स्थूल-सूक्ष्म भावों तथा

---

47. "आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक्क्रियः शिवः।।"
–शि० दृ० 1/2

शिव से लेकर सकल पर्यन्त सात प्रमाताओं का विकास एक ही परमसत्ता से निरूपित किया गया है। बन्ध-मोक्ष, जीव-मुक्त, किं बहुना-पति (शिव), पाश (बन्धन) और पशु (जीव) अथवा शिव-शक्ति और नर को एक ही परमेश्वर की लीला का विलास बतलाया है।

उत्पलदेव की इस कृति पर वृत्ति इसके मौलिक तथ्यों के व्याख्यान में स्वर्ण पर सुहागे का काम देती है। भावों के गाम्भीर्य, शब्दों के अर्थ की दुरूहता अथवा दुर्बोध विचारों को सरल बनाती है, परन्तु दुर्भाग्य से यह वृत्ति अपूर्ण ही उपलब्ध होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पलदेव एक भक्त, ज्ञानी, विरक्त, परमहंस, आचार्य (दार्शनिक) इत्यादि विविध भूमिकाओं के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। एक दार्शनिक लेखक एवं भाष्यकार के रूप में भी उनका योगदान अति सराहनीय है। उनका जीवन एवं दर्शन अपने आप में एक अद्वितीयता को संजोये हुये है। उनका प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रतिपादन और व्याख्यान में अमूल्य योगदान है।

द्वितीय अध्याय

सांख्यकारिका लेखक – ईश्वरकृष्ण जीवन परिचय एवं कृतियाँ

जीवन परिचय

ईश्वरकृष्ण को सांख्य दर्शन का पुनरुद्धर्ता माना जाता है। इस दर्शन के मूल प्रवर्तक परमर्षि कपिल थे, जिनको योग का भी प्रतिपादक कहा जाता है।[1] यह आदि विद्वान् थे। यद्यपि कपिल नाम के अनेक ऋषि-मुनि हुये हैं, परन्तु सांख्य प्रणेता एक ही थे। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कपिल को ऋषि कहा गया है, जो ज्ञानधारक है।[2] ऋग्वेद के एक मन्त्र में कपिल और उनकी माता देवहूति का संकेत मिलता है, जिस पर भाष्यकार सायणाचार्य ने इन्हें कपिल संज्ञक ऋषि बतलाया है।[3] बौधायन धर्मसूत्र अनुसार दैत्यराज प्रह्लाद के वंश में भी एक कपिल हुये हैं।[4] ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वामित्र के वंश में भी एक कपिल का उल्लेख है।[5] यजुर्वेद की कापिल शाखा, कपिल उपपुराण और कपिल स्मृति[6] का भी वर्णन मिलता है, परन्तु सांख्य प्रवर्तक कपिल पुराणों अनुसार प्रजापति कर्दम और माता देवहूति का पुत्र था। भागवत पुराण अनुसार स्वायम्भुव मनु की पुत्री

---

1. "अग्निः सः कपिलो नाम सांख्ययोग प्रवर्तकः।" –म० भा०, व० प०, 22/21
2. "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत्।" –श्वेत० उप०, 5/2
3. "दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय। गर्भं माता सुधितं वक्षणा स्ववेनन्तं तुष्यन्ती बिभर्ति।।" –ऋ० वे०, 10-27-16 -- इस पर सायण-भाष्य-- "एकं मुख्यं कपिलमेतन्नामानं प्रसिद्धमृषिम्।"
4. "तत्रोदाहरन्ति प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस।" –बौ० ध० सू०, 2-6-30
5. "स ह वै देवरातो वैश्वामित्र आस तस्यैते कापिलेयबाभ्रवाः।" –ऐ० ब्रा०, 7-17, म०भा० 7/56
6. "नैवं कापिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति। ....कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते।" –ब्र० सू०, शां० भा०, 2/1/1

देवहूति ने अपने पति प्रजापति कर्दम के साथ सरस्वती नदी पर दश सहस्त्र वर्षों पर्यन्त उग्र तप किया, जिससे भगवान् विष्णु प्रसन्न होकर उनके पुत्र रूप में अवतरित हुये। इनका तेज अग्नि के समान था और इन्होंने जगत् कल्याणार्थ तत्त्वज्ञान दिया।[7] पुराणों में कपिल को कहीं ब्रह्मा, कहीं विष्णु[8] एवं कहीं अग्नि का अवतार माना गया है। महाभारत में सगर पुत्रों को कपिल ऋषि द्वारा भश्म किया जाता कहा गया है।[9] वहीं कपिल को अग्नि मानते हुये सांख्य शास्त्र प्रवर्तक कहा है।[10] कपिल को ही हिरण्यगर्भ भी कहा जाता था।[11] शंकराचार्य ने "हिरण्यगर्भ" शब्द का अर्थ "कनककपिल वर्ण" किया है– अतः हिरण्य (स्वर्ण) जैसा वर्ण कपिल संज्ञा का सार्थक है। अतः कपिल के विविध अवतारों अथवा नामों का सम्बोधन इनके प्रति श्रद्धा और इनकी चरम विद्वत्ता का द्योतक है। यह एक सिद्ध पुरुष थे-- जैसा कि गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को सिद्धों में कपिल मुनि बतलाया है।[12] अपनी योग-शक्ति से इन्हें "निर्माणचित्त" की सामर्थ्य प्राप्त थी, जिससे यह जगत्-कल्याणार्थ अपनी इच्छानुसार रूप और शरीर धारण कर प्रार्थीजन को अनुगृहीत करते रहे। अतः इन्हें किसी काल विशेष के साथ जोड़ना यौगिक शक्तियों से अनभिज्ञता का ही द्योतक है। इन्होंने ही द्वापर युग के अन्त में करुणावश महर्षि आसुरि को सांख्य दर्शन का उपदेश दिया।[13] इनसे पञ्चशिखाचार्य ने ज्ञान प्राप्त किया और पुनः इनकी शिष्य-परम्परा में ईश्वरकृष्ण ने इस तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करके नवीन

---

7. "स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः। तस्य वै दुहिता ब्रह्मन् देवहूतीति विश्रुता।।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ। सारस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश।।
तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः। कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि।।
तत्त्वं संज्ञानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट्। कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्।" –भा० पु०

8. "कपिलर्षिर्भगवत सर्वभूतस्य वै द्विज। विष्णोरंशो जगन्मोहायोर्वीमुपागतः।।" –वि० पु०

9. "अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्।" –म० भा० 2-1-1

10. "अग्निः स कपिलो नाम सांख्य शास्त्र प्रवर्तकः।" –म० भा०

11. "यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम्। हिरण्यगर्भो भगवानेष छन्दसि सुष्टुतः।।" --म० भा०

12. "सिद्धानां कपिलो मुनिः।" –भ० गी०, 10-26

13. "आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।" –व्या० भा०, 1/25 में उद्धृत

रूप प्रदान किया,[14] जिससे इनको अर्वाचीन सांख्य दर्शन का प्रणेता (पुनरुद्धर्ता) माना जाता है।

ईश्वरकृष्ण ने अपने जीवन, स्थितिकाल अथवा वंशावली के विषय में कुछ नहीं कहा है, जिससे इन तथ्यों के सम्बन्ध में प्रकाश डालना असम्भव है। परन्तु उपर्युक्त शिष्य-परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भी सांख्य दर्शन का मूल प्रणेता परमर्षि कपिल को ही मानते थे। उनसे जो ज्ञान आसुरि ने प्राप्त किया और उसने पुनः पञ्चशिख को दिया- वही शिष्य-परम्परा से प्राप्त तत्त्व ज्ञान इन्होंने साररूप में अभिव्यक्त करने का श्रेय लिया। ईश्वरकृष्ण सांख्य कारिका सांख्य दर्शन की अतिप्रसिद्ध और प्रामाणिक रचना है। शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिक प्रवरों ने अपने ग्रन्थों में सांख्य मत का उपन्यास करने की अवस्था में कपिल के सांख्य सूत्र का निर्देश न करके इन्हीं की कारिकाओं से उद्धरण दिये हैं। अतः इससे भी इस रचना की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सहित ईश्वरकृष्ण की विद्वत्ता पर प्रकाश पड़ता है। इसके साथ ही शंकराचार्य (780-812 ई. प.) से इनका सुदूर पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। चीनी भाषा में परमार्थ संज्ञक विद्वान् द्वारा इस कृति पर वृत्ति सहित अनुवाद मिलता है, जो छठी शताब्दी का है। चीनी भाषा में इसे "हिरण्यसप्तति" अथवा "सुवर्ण सप्तति" कहा जाना इसमें सांख्य के सारभूत तथ्य कथित होने का परिचायक है। जैन ग्रन्थ "अनुयोगद्वार सूत्र" (100 ई. प.) में "काविल" (कापिल), "सट्ठितन्तं" (षष्टितन्त्रं), "माठरं" के साथ ही "कणगसत्तरी" (कनक सप्तति) का प्रयोग सन्दर्भानुसार इस रचना का सांख्य से सम्बन्धित होना सिद्ध करता है, क्योंकि ईश्वरकृष्ण की "सांख्य सप्तति" का चीनदेशीय नाम "सुवर्णसप्तति" मिलता है।[15] अतः ईश्वरकृष्ण अवश्य ही प्रथम शताब्दी से भी पूर्वकालीन प्रतीत होते हैं। दूसरे, सांख्य कारिका पर जो माठर वृत्ति लिखी गई थी, उसके चीनी अनुवाद से भी यह प्रमाणित होता है कि यदि उसके लेखक माठर कुषाण वंशी राजा कनिष्क (100 ई. प.) के समकालीन थे, तो अवश्य ही सांख्य कारिकाकार का समय उससे पूर्ववर्ती ही मानना होगा। कुछ विद्वान् विन्ध्यवास या विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण

---

14. "पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्। स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्।। एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्।। शिष्यपरम्परागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः। संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्।।"
-सां० का०, 69, 70, 71

15. म० म० पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित -"जयमंगला" की भूमिका, पृ० 7

को एक ही मानते हैं,[16] परन्तु गोपीनाथ कविराज इत्यादि विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है, क्योंकि योगसूत्र पर भोज के राजमार्तण्ड,[17] मनुसंहिता पर मेधातिथि भाष्य[18] तथा स्याद्वादमञ्जरी एवं सर्वदर्शन संग्रह के उल्लेखों से विन्ध्यवासी इतने प्राचीन प्रतीत नहीं होते।

उपनिषद्-पुराणादि में जो कापिल सांख्य का निरूपण मिलता है, उसमें ईश्वर का अस्तित्व अवश्य स्वीकार किया गया है, परन्तु ईश्वरकृष्ण द्वारा सांख्यकारिका में कहीं भी ऐसा आभास नहीं मिलता। अतः प्रतीत होता है कि वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। परन्तु ऐसा होते हुये भी, वह सहृदय महापुरुष थे एवं मानवतावादी थे, क्योंकि उन्होने सर्वसामान्य को त्रिविध तापों से प्रताड़ित होने एवं लौकिक-अलौकिक उपायों को क्षणिक-प्रभावशील देखकर आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक शान्ति के लिये सांख्य तत्त्व-ज्ञान पर बल दिया।[19] तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिये सात्त्विक भावों (ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य) पर अधिमान दिया और तामसिक (अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य) को मानव की निम्नगति का मुख्य कारण बतलाया।[20] इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध (तादात्म्य) को ही उसकी संसारिता (संसृति-चक्र में पड़ने) का हेतु माना और उनके परस्पर विवेक ज्ञान (पृथक्ता की अनुभूति) को मोक्षभाव (कैवल्य दशा) का सोपान अभिव्यक्त किया। मानव के समस्त दुःखों, क्लेशों इत्यादि की जड़ उसके द्वारा प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के प्रभाव से होने वाले सुख, दुःख एवं मोह को अपने गुण मान लेने को बतलाया।[21] ऐसी ही बात गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को

---

16. "अन्तराभवदेहो हि नेष्यते विन्ध्यवासिना। तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते।।"
    -श्लो० वा०, पृ० 704

17. "सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्।" -याज्ञ० स्मृ०, 4/23

18. "सांख्या हि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासप्रभृतयः।" -म० स्मृ० भा०, 1/25

19. "श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।" -सां० का०, 2

20. "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।
    वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारों भवति राजसाद्रागात्। ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्ताद्विपर्यासः।।"
    -सां० का०, 44, 45

21. (क) तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्। गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः।।"
    -तदेव 20

    (ख) "तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। लिंगस्याऽऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।।" -तदेव, 55

समझाई गई है।[22] अतः ईश्वरकृष्ण का यह दृढ़ विचार था कि वास्तव में पुरुष का न तो कोई बन्धक ही होता है और न मोक्ष ही (किसी वस्तु से छुटकारा) एवं न ही उसका आवागमन (जन्म-मृत्यु), प्रत्युत् ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं, जिनको पुरुष अज्ञानवश अपने मानकर कष्ट पाता है– अन्यथा वह तो निर्लिप्त शान्त चेतनस्वरूप ही है।[23]

कृतियाँ

सांख्कारिका

ईश्वरकृष्ण की मुख्य और अतिप्रसिद्ध रचना "सांख्यकारिका" ही है। सम्भव है कि उन्होंने और भी रचनायें लिखी हों, परन्तु उनके सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। परन्तु ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी एक ही यह रचना दर्शन जगत् में अपने सिद्धान्तों के प्रकाशन में एक अद्वितीय स्थान रखती है। "एकः चन्द्रः तमो हन्ति" वाली कहावत इस पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि शंकराचार्य जैसे दिग्गज विद्वानों ने भी सांख्य दर्शन के अपनी रचनाओं में प्रतिष्ठापन के लिये इनकी सांख्यकारिका को ही आधार बनाया है, किसी दूसरे विद्वान् की कृति को नहीं। अतः इनकी यह रचना अतिप्राचीन एवं प्रामाणिक है। इसमें सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त, सूक्ष्म एवं मार्मिक ढंग से प्रस्थापन किया गया है। गागर में सागर भरने का सफल प्रयास किया गया है। ईश्वरकृष्ण इस रचना के अन्त में स्वयं कहते हैं कि इसके प्रतिपाद्य विषय का आधार कपिल प्रणीत तत्त्व ज्ञान है, जो सम्भवतया "सांख्यसूत्र" अथवा " षष्टितन्त्रशास्त्र" आदि में निबद्ध था। इन्होंने सांख्य दर्शन की विशद रचना षष्टितन्त्र से आख्यायिका एवं परवाद खण्डन आदि के अंश को छोड़कर शेष सारतत्त्व को मात्र सत्तर (70) कारिकाओं में संकलित किया है।[24] इसीलिये इसको "सांख्य सप्तति" के नाम से भी

---

22. (क) "पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।" –भ० गी०, 13/21

(ख) "प्रकृत्यैव हि कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।" –तदेव, 13/29

(ग) "प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।" –तदेव, 3/27

23. "तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।" –सां० का०, 62

सम्बोधित किया जाता है। चीनी भाषा में इसे "हिरण्य सप्तति" अथवा "सुवर्ण सप्तति" एवं जैन ग्रन्थों में "कणसत्तरी" (कनक सप्तति) संज्ञा से अभिहित किया जाना इसकी विशाल महत्ता का द्योतक है। यद्यपि सांख्यकारिका में कारिकायें 73 के लगभग हैं, परन्तु मूल सिद्धान्त 70 सूत्रों में ही संकलित है– शेष गुरु–परम्परा आदि से सम्बधित हैं। ईश्वरकृष्ण ने इस रचना के प्रारम्भ में ही प्राणी–मात्र की समस्याओं को त्रिविध तापों के रूप में उद्घाटित करके एवं दृष्ट तथा अनुश्राविक उपायों की निरर्थकता बतलाकर सांख्य–तत्त्व ज्ञान से आत्यन्तिक और ऐकान्तिक सुख–प्राप्ति (कैवल्य लाभ) अभिहित किया है। इसीलिये सांख्य में मूल दो तत्त्वों– पुरुष और प्रकृति– की नित्यता अभिव्यक्त करके पुनः उनके संसर्ग से बुद्धि से लेकर पृथिवी पर्यन्त कार्य जगत् का विकास कारण–सूक्ष्म एवं स्थूल रूपों में बतलाया है। इस प्रकार कुल 25 तत्त्व इस जगत् प्रपञ्च के मूल घटक (factors) माने गये हैं। कार्य की सत्ता कारण रूप में एवं कारण के ही कार्य रूप में विकसित होने से "सत्कार्यवाद" की उत्कृष्ट विचारधारा प्रस्तुत की गई है। पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग ही जगत् प्रक्रिया अथवा उसके बन्धन (दुःखों) का कारण कहा गया है। मोक्ष अथवा कैवल्य की प्राप्ति (सभी प्रकार के दुःखों, जरा–मरण–जन्मादि से छुटकारा) पुरुष की प्रकृति से विविक्तता (पृथक्ता, विरह) की दशा में प्राप्त होना अभिव्यक्त किया गया है। तत्त्वों का विकास, स्थिति एवं लय बहुत ही वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित ढंग से संयोजित किया गया है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने न्यून–अधिक मात्रा में सांख्य–सम्मत तत्त्वों को ही स्वीकार किया है। अतः कोई भी दर्शन अथवा चिन्तक इसकी विचारधारा से प्रभावित हुये बिना नहीं रहा है। इसी से इसकी महत्ता को आंका जा सकता है। रचना के अन्त में पुनः ईश्वरकृष्ण ने इस दर्शन के महत्त्व अथवा प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये कहा है कि इसमें निरूपित ज्ञान "पुरुष" के लिये है और यह गुह्य (रहस्यमय) ज्ञान परमर्षि कपिल द्वारा कथित है।[25] इसमें भूतों (प्राणियों) की सृष्टि, स्थिति और संहृति पर विचार किया गया है। इसके निरूपण का कारण (उद्देश्य) संसार से मुक्ति लाभ कराना है। अतः स्पष्टतया यह शास्त्र की रचना मानवमात्र के श्रेयहेतु है। सांख्यकारिका की लोकप्रियता का प्रमाण उस पर उपलब्ध अनेक

24. "पुरुशार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्। ---- सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्।।
सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्था कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिकाविरहिताः
परवादविवर्जिताश्चापि।।" –सां॰ का॰ 69 तः 72

25. "सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसार विमुक्तिकारणं हि।" –सां॰ का॰ 70

टीकायें एवं भाष्य हैं, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :-

1. **माठर वृत्ति :** सांख्यकारिका पर उपलब्ध टीकाओं में से यह अति प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ "अनुयोगद्वार सूत्र" में इसका उल्लेख होने एवं ऐतिहासिकारों द्वारा माठर को कनिष्क का समसामयिक घोषित किये जाने से इसका समय प्रथम शताब्दी बनता है, जो वर्तमान विद्यत टीकाओं के रचना काल से पूर्ववर्ती है। छठी शताब्दी में जिस वृत्ति के साथ "सुवर्णसप्तति" का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था- यही प्रतीत होती है।

2. **गौड़पाद भाष्य :** यह भी प्राचीन और प्रामाणिक रचना है। इसके कर्ता गौड़पाद हैं, जो शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद के भी गुरु माने जाते हैं। माठर वृत्ति से इसका अत्यन्त साम्य है, इसलिये यह तथ्य अविदित है कि यह उसका संक्षिप्त रूप है या वह इसका विस्तृत रूप। माण्डूयकारिका के रचयिता इससे भिन्न थे अथवा अभिन्न- यह तथ्य अभी संदिग्ध हैं

3. **जयमंगला :** यह टीका शंकराचार्य के नाम पर प्रसिद्ध है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि यह वेदान्ती शंकराचार्य हैं अथवा कोई अन्य। परन्तु विषय प्रतिपादत की संक्षिप्तता के लिये यह अत्यन्त उपयोगी है। इसका कर्ता सप्तम शताब्दी का ही माना जा सकता है, क्योंकि नवम शताब्दी में वाचस्पति सम्मानपूर्वक इसको उद्धृत करते हैं।

4. **युक्तिदीपिका :** सांख्कारिका की इस टीका के रचयिता का नाम अज्ञात है। अतः इसका रचनाकाल भी संदिग्ध है। यह टीका अत्यन्त विस्तृत एवं मर्मस्पर्शिनी है। इसमें अनेकत्र नवीन व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। सांख्य के सिद्धान्तों से भरी पड़ी है।

5. **तत्त्वकौमुदी :** द्वादश दर्शन केसरी अतिप्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित यह टीका अतिविख्यात है, जो सांख्य के सिद्धान्तों के प्रकाशन के लिये सचमुच कौमुदी रूप ही है। यह सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण एवं गम्भीर टीका है। इसमें सांख्य के सरल एवं स्थूल प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों की सूक्ष्म एवं सारगर्भित व्याख्या मिलती है। इस पर उपलब्ध अनेक टीकायें इसकी महत्ता की परिचायक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वरकृष्ण एक कर्मठ, अनुभवी और मानवतावादी प्रसिद्ध दार्शनिक रहे हैं। मानवता के कल्याण की इनको अत्यन्त चिन्ता थी। यह स्वयं सांसारिक दुर्बलताओं, आपदाओं के आनुभाविक थे।

इसीलिये इन्होंने उनसे छुटकारा पाने के लिये कापिल सांख्य दर्शन को सर्वथा उपयुक्त एवं सरल उपाय जानकर उसका सारगर्भित रूप "सांख्यकारिका" के रूप में प्रस्तुत किया।

सांख्य दर्शन के पुनरुद्धार के लिये इनका योगदान इसलिये भी महनीय है कि कपिल के सांख्य सिद्धान्त को शैव, वेदान्त, जैन, बौद्धादि दार्शनिकों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, कामशास्त्र, पुराण, उपनिषद् तथा महाभारतादि द्वारा भी स्वीकृत किया गया था। अतः इसकी लोकप्रियता के कारण इसका मूल सिद्धान्त समझना कठिन था। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका के रूप में इस कमी को पूरा किया और इसमें विशुद्ध सांख्य सिद्धान्त का मौलिक रूप प्रस्तुत किया।

महाभारत, पुराण, गीता एवं उपनिषदों में सेश्वर सांख्य मत का निरूपण है,[26] परन्तु सांख्यकारिका निरीश्वर सांख्य सिद्धान्त प्रस्तुत करती है।[27] इतना जानना कठिन है कि कपिल के सांख्यसूत्रों अथवा षष्टितन्त्र जैसे मूल ग्रन्थों में भी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकृत किया गया है अथवा नहीं, क्योंकि वे अनुपलब्ध हैं। परन्तु, कैसे भी, दर्शन साहित्य में ईश्वरकृष्ण एवं इनकी रचना सांख्यकारिका का अपना ही स्थान है।

---

26. (क) "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्यपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।"
–भ॰ गी॰, 7/5, 6

(ख) "पुरुषाधिष्ठितं भावं प्रकृतिः सूयते सदा। हेतुयुक्तमतः सर्वं जगत्संपरिवर्तते।।"
–म॰ भा॰, शां॰ प॰, मो॰ ध॰ प॰, 203/23

27. "अनन्यापेक्षि बीजादिसामग्री यद्वदंकुरे। महदादिविकारौघपरिणामस्वभावकम्।।
त्रिगुणात्म प्रधानं च तेन सांख्यमनीश्वरम्।" –ई॰ सि॰ का॰ 26, 27

तृतीय अध्याय

प्रत्यभिज्ञा दर्शन–एक सामान्य परिचय

"दर्शन" से तात्पर्य होता है– दृष्टिकोण, विचारधारा, तत्त्वार्थ अवलोकन। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में स्पष्ट कहते हैं कि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।[1] मानव मननशील चेतन प्राणी है। वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक परिवेश की सूक्ष्म अथवा स्थूल अनुकूल अथवा प्रतिकूल संवेदन से प्रभावित होता है और सुखी–दुःखी अथवा व्यामूढ होता है। सुखी जीवन के लिये उसे संघर्ष करना पड़ता है। वह वास्तविक सुख की प्राप्ति अथवा सर्वदुःखों से निवृत्ति किस प्रकार होती है– इसका चिन्तन–मनन करता है एवं अपने मानसिक स्तर अनुसार ही उस मार्ग को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपनाता है। भारतीय आर्ष–मनीषियों ने अपने अनुभव, तप, योग अथवा प्रतिभा के बल से इस विषय में गहन विचार विचार किया था। उनकी बुद्धि–सामर्थ्य अनुसार ही उनकी विचारधारा, तत्त्व ग्राह्यता एवं प्रतिपादकता में भिन्नता उपलब्ध होने से विविध दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ– परन्तु लक्ष्य सभी का एक ही था। प्राणीमात्र का दुःखों से छुटकारा अथवा परमकल्याणरूप परमसत्ता की प्राप्ति।[2] भगवान् शिव भी दर्शनों की भिन्नता का कारण चित्तभेद को ही अभिव्यक्त करते हैं।[3]

"दर्शन" शब्द से "साक्षात्कार" अर्थ भी लिया जाता है। अतः जिज्ञासा हो सकती है कि किसका साक्षात्कार किया जाये ? इसका प्रत्युत्तर कठोपनिषद् में

1. "सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।"
   --भ०गी०, 17/3
2. "रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"
   –शि०म०स्तो०, –पुष्पदन्त
3. "चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने। व्याधिभेदाद्यथा भेदो भेषजानां महौजसाम्।। यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति। तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत्।।"
   –तं०आ०, भा० 3, पृ० 55

उक्त धर्मराज द्वारा नचिकेता को आत्मोपदेश से स्पष्ट है।[4] हमारी इन्द्रियाँ स्वभावत: बहिर्मुख हैं। ये वस्तु के बाह्य स्वरूप का ही अवलोकन करती हैं, परन्तु अभिप्रेय है तात्विक (सत्य) स्वरूप का साक्षात्कार। हम क्या हैं ? कहाँ से आये हैं ? कहाँ जाते हैं ? जगत् क्या है ? चेतन है अथवा जड़ ? इसका कोई नियन्त्रक भी है अथवा नहीं ? जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है ? इत्यादि प्रश्नों का समुचित समाधान ही "दर्शन शास्त्र" का विषय है। भारत में आस्तिक एवं नास्तिक- दोनों प्रकार के दर्शन विद्यमान हैं और वे अपने- अपने ढंग से जगत्, ईश्वर और आत्मा की पहेली का समाधान प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं दर्शनों में "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" भी आस्तिकता के सिद्धान्त को मानने वाला एवं अन्य दर्शनों की अपेक्षा परमार्थ लाभ का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाला है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का नामकरण

सोमानन्द को प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रतिष्ठापक माना जाता है और उनके परम विद्वान् शिष्य उत्पलदेव को इसका व्याख्याता। परन्तु सोमानन्द ने स्वयं अपनी कृति शिवदृष्टि में इस दर्शन को "शिव शासन" "शैव रहस्य" अथवा "शैव शास्त्र" नामों से सम्बोधित किया है[5], क्योंकि इसमें शिव (परमसत्ता) विषयक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत: यह उत्पलदेव ही हैं, जिनकी "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा" संज्ञक कृति की अति प्रसिद्धि के कारण इस दर्शन का नाम "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" पड़ गया, क्योंकि इसमें ईश्वर (महेश्वर, परमसत्ता) की पहचान के सम्बन्ध में तर्कसंगत विचारधारा प्रस्तुत है। उत्पलदेव ने स्वयं भी इसको "प्रत्यभिज्ञा नय" संज्ञा से सम्बोधित किया है[6] और माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में "प्रत्यभिज्ञा शास्त्र" नाम से सम्बोधित करते हुये इसकी महत्ता पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार इसमें परम महेश्वर को वास्तविक सत्ता मानने वालों ने बाह्यचर्या (भश्म, स्नानादि) अथवा आभ्यन्तरचर्या (धौति- नौलि आदि), प्राणायाम आदि अतिक्लेशप्रद प्रयासों के समूह से विपरीत सर्वजन के लिये सुलभ, एकदम नवीन "प्रत्यभिज्ञा" मात्र को ही परसिद्धि (मोक्ष) और

---

4. "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।" -कठ०उप०, 2/1/1
5. "शैवादीनि रहस्यानि .... समुच्छिन्ने च शासने ...... नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं।।"
-शि०दृ०, सप्तमाह्निके
6. "इत्थमाभास एवास्मिन्ननेकस्यैकतादृशि। वाच्योपपत्ति: साप्युक्ता प्रत्यभिज्ञानये स्फुटम्।।"
-सं०सि०, श्लोक 7

अपरसिद्धि (स्वर्गादि) की प्राप्ति का उपाय माना है।[7] उत्पलदेव ने इस मत को अद्वयवाद, ईश्वराद्वयवाद, शिवाद्वैत, शिवाद्वय, शक्तिमद्वाद एवं शैव दर्शनादि नामों से भी अभिहित किया है। वर्तमान समय में इसकी "कश्मीर अद्वैत शैव" दर्शन के रूप में प्रसिद्धि है, क्योंकि एक तो इस दर्शन के मूल ग्रन्थ यहीं पर लिखे गये और यहीं से उद्भव एवं विकास को प्राप्त हुये, दूसरे सभी प्रमुख शैवाचार्य भी यहीं से सम्बन्धित थे। इस दर्शन का नाम त्रिक्दर्शन भी लिया जाता है, क्योंकि इसमें "पति-पाश और पशु" अथवा "नर-शक्ति और शिव" – तीन संघटक तत्त्व ही प्रधान हैं। समस्त जगत् प्रपञ्च इनके इर्द-गिर्द ही घूमता है। "इच्छा-ज्ञान और क्रिया" शक्तियों अथवा "परा-परापरा और अपरा" देवताओं का प्राधान्य भी इसके नामकरण में कारण हो सकता है। "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" के रूप में प्रसिद्धि का कारण इसकी सरलता, युक्तिसंगता एवं वैज्ञानिकता है।[8]

प्रत्यभिज्ञा परिभाषा

प्रत्यभिज्ञा शब्द से तात्पर्य होता है– पहचान। अपने परमार्थ (वास्तविक) रूप की अनुभूति। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव शिव ही होता है, परन्तु संसार में आकर अपने यथार्थ शिव स्वभाव को भूल जाता है। अपने स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर को ही अपना स्वरूप समझ बैठता है। चूँकि इस दर्शन में अपने वास्तविक स्वरूप की पुन: पहचान करवाई जाती है, इसीलिये इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन अथवा सिद्धान्त कहते हैं। अभिनवगुप्त अनुसार "प्रत्यभिज्ञा" शब्द "प्रति+अभि+ज्ञा" से बना है। "प्रति" का अर्थ है– प्रतीप (विपरीत), "अभि" से तात्पर्य है– अभिमुख (आमने-सामने, स्पष्ट रूप से), "ज्ञा" का अभिप्राय है– ज्ञान (प्रकाश)। अत: ज्ञात होने पर भी विस्मृत तत्त्व का अभिमुख रूप से ज्ञान होना "प्रत्यभिज्ञा" कहलाता है। "प्रतीपम्" से अभिप्राय है कि अपनी आत्मा का पूर्व में भी अवभास होता है– ऐसी बात नहीं कि पहले उसका अस्तित्व (प्रकाश) विद्यमान न रहा हो, क्योंकि वह अनवच्छिन्न रूप से प्रकाशित रहने वाला तत्त्व होता है– केवल अपनी ही स्वातन्त्र्य शक्ति के विलास से असीमित (अबाधित, अविभक्त) होते हुये भी सीमित (बाधित, विभक्त) हुआ-सा जान पड़ता है। अत: प्रत्यभिज्ञा से अभिप्राय है– पूर्व में भात (ज्ञात)

---

7. "...... बाह्याभ्यन्तरचर्याप्राणायामातिक्लेशप्रयासकलापवैधुर्येण सर्वसुलभमभिनवं प्रत्यभिज्ञामात्रं परापरसिद्ध्युपायमभ्युपगच्छन्तः परे माहेश्वराः प्रत्यभिज्ञाशास्त्रमभ्यस्यन्ति।"
–स०द०सं०, पृ० 347

8. द्रष्टव्य– शि०दृ०वृ०, पृ० 36, 53, 54, 88, 89, 102, 105, 122, 142

वस्तु का वर्तमान में भासमान के साथ एकीकरण। जैसे– "यह" (वर्तमान से भासमान) "वही" (पूर्व में ज्ञात) चैत्र है। अर्थात् पूर्व में अनुभूत वस्तु का अभिमुख (सामने) होने पर प्रतिसन्धान– अनुस्मरण के बल पर ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। लोक में भी "इसका पुत्र इस प्रकार के गुण वाला", "इस प्रकार के रूप वाला" – ऐसा ही ज्ञान होता व्यवहृत होता है। अथवा सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु का पुनः सामने आने के अवसर पर अनुस्मरण द्वारा ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। "राजा के प्रति इसकी पहचान कराई गई है" – इत्यादि बातों में भी लोक में "प्रत्यभिज्ञा" का व्यवहार देखा ही जाता है।[9] प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी प्रसिद्ध पुराण, सिद्धान्त, आगम, अनुमानादि के द्वारा पूर्ण शक्ति के स्वभाव वाले ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होने पर, अपने आत्मा का स्पष्टरूप से साक्षात्कार होने से प्रतिसन्धान (अनुस्मरण) के बल से दोनों के ज्ञान के एकीकरण द्वारा जो ज्ञान उदित होता है कि निश्चित् से "मैं वही ईश्वर हूँ"– प्रत्यभिज्ञा कहलाता है।[10] सोमानन्द के अनुसार जड़ और चेतन वस्तुओं के वैचित्र्य से सम्पन्न इस विश्व की परमसत्ता के साथ ऐक्य अनुभूति "प्रत्यभिज्ञा" कही जाती है– जो इसकी विधाओं में से एक, जैसे– प्रकाशमानता (सर्वव्यापकता), के प्रत्यक्ष (दृष्ट) और दूसरी विधाओं, जैसे सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्तादि की स्मरण प्रक्रिया द्वारा होती है।[11] अतः प्रत्यभिज्ञा में दृष्ट और स्मरण प्रक्रियायें एकत्रित होती हैं। उत्पलदेव ने आत्मा की ज्ञान और क्रिया शक्तियों के आविष्करण (अनुसंधान) को "प्रत्यभिज्ञा" माना है।[12] स्पन्द शास्त्र के अनुमोदन द्वारा इसे स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि यह ऐक्यानुभूति अथवा अभेद ज्ञान जितनी मात्रा में होगा, उतनी मात्रा में आत्म-स्वरूप की सिद्धि होगी

---

9. "प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति स्वात्माभासो हि न अननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यते-इति वक्ष्यते।" वस्तूनि ज्ञानम्, लोकेऽपि एतत्पुत्र एवंगुण एवंरूपक इत्येवं वा; अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसंधितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा– इति व्यवह्रियते; नृपतिं प्रति प्रत्याभिज्ञापितोऽयं–इत्यादौ।" –ई०प्र०वि०, 1-20,21
10. "इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे, सति स्वात्मन्याभिमुखीभूते तत्प्रतिसंधानेन ज्ञानम् उदेति, नूनं स एव ईश्वरोऽहम्–इति।" –ई०प्र०वि०, 1, 21
11. "तस्माज्ज्ञेयं समग्रैक्यवस्तु शैवं व्यवस्थितं। तथा स्मरणयोगाच्च स्मर्यते किं तथा विधम्।।
यादृग् दृष्टं दृष्टता स्यादथवा ज्ञानमेव तत्। दृष्टस्मरणयोरैक्ये स्थिते तदुपपद्यते।।
तथा सा प्रत्यभिज्ञानात् स एवायमिति स्थितिः। युज्यते कथमत्रैव ज्ञानयोः कालभिन्नयोः।।"
–शि०दृ० 4/119, 120, 121
12. "शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।" –ई०प्र०का०, 1/3

अर्थात् आत्मा में माहेश्वर्य की अनुभूति समावेश के स्तर के अनुसार ही होती है, क्योंकि कर्तृता के अनुसार ही ज्ञान और क्रिया का योग होता है।[13]

अतः "प्रत्यभिज्ञा" स्वात्मा के महेश्वर रूप में प्रत्यभिज्ञान को कहा जाता है, क्योंकि वह ज्ञान और क्रिया शक्तियों से सम्पन्न होती है। आत्मा जीवनी शक्ति है और जीवन जीवनकर्तृत्व को कहते हैं, जो ज्ञानक्रियात्मक होता है। जो भी जानता है या करता है, वह जीवित कहलाता है। इसलिये ज्ञान और क्रिया शक्तियों के योग से यह प्रमाता (आत्मा) "ईश्वर" कहा जाता है।[14] जो जहाँ वैचित्र्य का आपादक होता है, वह उसका ईश्वर कहलाता है।[15] इस प्रकार हम देखते हैं कि "प्रत्यभिज्ञा" के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि महेश्वर समस्त प्राणियों की आत्मा है, क्योंकि उनकी समस्त क्रियायें उसकी इच्छा, ज्ञान और क्रियादि शक्तियों से अनुसरित होती हैं। यह आत्मा स्वप्रकाश है, पूर्वसिद्ध है, पुराण है और ज्ञान तथा क्रिया उसका स्वसंवेदनसिद्ध ऐश्वर्य है। सभी कार्यों की सिद्धि का समाश्रय स्वात्मा ही होता है– अन्यथा तद्-तत् कार्य हेतु प्रयुज्यमान् साधन की भी अनुपपत्ति होती है।[16] परन्तु ऐसी स्वसंवेदनसिद्ध आत्मा शिवरूप होने पर भी मोह (माया शक्ति) के कारण सर्वथा अपने ऐसे असीमित ऐश्वर्य को भूल जाती है, और जब इसका असाधारण प्रभाव (सामर्थ्य) अभिज्ञापन (ख्यापन) होता है अर्थात् आत्मा की अबाधित ज्ञान और क्रिया शक्तियों का अनुसंधान होता है– तो यह दृढ़ निश्चयरूप इसकी "प्रत्यभिज्ञा" निरूपित होती है।[17] क्षेमराज ने स्वस्वरूप से अनभिज्ञ को ही संसारी (आवागमनशील, जीव, पशु, बद्ध) और अपनी वास्तविक शक्तियों से प्रत्यभिज्ञात को शिव माना है।[18]

---

13. "यावत्या च मात्रया समावेशस्तावन्मात्रसिद्धिसम्भवः। प्रथमस्तावत् कर्तृतानुसारी ज्ञानक्रियायोगः। यथोक्तं स्पन्द शास्त्रे– "आत्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत्।" –स्प०का०, 1/8
– शि०दृ०वृ०, पृ० 3
14. "जीवनं च जीवनकर्तृत्वं तच्च ज्ञानक्रियात्मकं, यो हि जानाति च करोति च स जीवति– इत्युच्यते। तदयं प्रमाता ज्ञानक्रियाशक्तियोगाद् ईश्वर इति।" –ई०प्र०वि०, 1/43
15. "वैचित्र्यकारी यो यत्र स तत्रेश्वर इष्यते।" –ई०सि०, पृ० 23
16. "सर्वेषां स्वात्मनः सर्वार्थसिद्धिसमाश्रयस्य तत्तत्साधनान्यथानुपपत्त्या क्रोडीकृतसिद्धेः स्वप्रकाशस्य प्रमात्रेकवपुषः पूर्वसिद्धस्य पुराणस्य ज्ञानं क्रिया च स्वसंवेदनसिद्धमेवैश्वर्यं।"
–ई०प्र०का०वृ०, 1/2
"कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।" –ई०प्र०का०, 1/2
17. "किंतु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते। शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।।"
–ई०प्र०का० 1/3
18. "तथा शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।" –प्र०हृ०, पृ० 49

प्रत्यभिज्ञा का प्रयोजन

अक्षपाद गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है कि जिस वस्तु को लक्षित करके अर्थात् उपादेय अथवा त्याज्य समझकर उपाय किया जाता है, वही उसका प्रयोजन कहलाता है।[19] प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का लक्ष्य जीव को उसके वास्तविक शिवस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराना है, जिससे वह सीमितता के निकृष्ट क्षेत्र से ऊपर उठकर असीमित ऐश्वर्य के उत्कृष्ट क्षेत्र का आनन्द ले सके। माधवाचार्य कहते हैं कि परमेश्वर की पदवी (परम शाक्त धाम) उपलब्ध करने पर ही सारी सम्पत्तियाँ उस (परमेश्वर) के निष्यन्द (प्रवाहशील) वस्तु के रूप में निकलकर प्राप्त हो जाती हैं, जिस प्रकार रोहणाचल के मिल जाने पर समस्त रत्न-सम्पत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। ऐसी उपलब्धि (परमेश्वरता लाभ) किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती[20] अर्थात् उसे पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है। अतः वह किस वस्तु के लिये प्रार्थना करेगा ? छान्दोग्योपनिषद् में इसी स्थिति को द्योतित करके कहा गया है कि आत्मा (ब्रह्म) के ज्ञात होने पर सब कुछ विज्ञात हुये की तरह हो जाता है।[21] यही तथ्य बृहदारण्यकोपनिषद्[22], मुण्डकोपनिषद्[23], एवं गीतादि[24] एवं श्वेताश्वतरोपनिषद्[25] में उद्घाटित किया गया है। आचार्य उत्पलदेव ने भी शिवस्तोत्रावली में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये कहा है कि भक्तिरूपी लक्ष्मी से समृद्ध पुरुषों के लिये कोई दूसरी वस्तु अपेक्षित नहीं रहती है, जिसके लिये उन्हें प्रार्थना करनी पड़े और इसी प्रकार जो इस सम्पदा से रहित होते हैं, उनको तो प्रत्येक वस्तु की अपेक्षा बनी रहती है।[26] अतएव ऐसे जीव सीमितता (सांसारिकता) के कारण सुख-दुःखादि क्लेशों का क्षण-क्षण में अनुभव करते हैं। बाहरी अथवा भीतरी समस्त प्रकार के नित्य एवं शाश्वत सुखादि सम्पदाओं की सिद्धि अथवा उसके वास्तविक स्वरूप का जो

---

19. "यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते, तत्प्रयोजनम्।" –न्या०सू०, 1/1/24
20. "परमेश्वरतालाभे हि सर्वाः सम्पदस्तन्निष्यन्दमय्यः सम्पन्ना एव, रोहणाचललाभे रत्नसम्पद इव। एवं परमेश्वरतालाभे किमन्यत्प्रार्थनीयम् ?" –स०द०सं०, प्र०द०, पृ० 356
21. "एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।" –छां०उप०
22. "विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।" –बृहद्०उप०, 2/4/5
23. "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।" –मुण्ड०उप०, 2/2/7
24. "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।
 –भ०गी०, 6/29
25. "एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातःपरं वेदितव्यं हि किञ्चित्।" –श्वेत०उप०, 1/12
26. "भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्। एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्।।"
 –शि०स्तो०, 20/11

प्रकाशन होता है, उस सिद्धि अथवा प्रकाशन को सम्यक् रूप से उपलब्ध कर लेना ही "प्रत्यभिज्ञा" का प्रयोजन है।

प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता

इस दर्शन के दृष्टिकोण में ज्ञान और क्रियादि शक्तियों से सम्पन्न जीवात्मा आदिसिद्ध महेश्वर (परमात्मा) ही है। इसलिये कोई भी बुद्धिमान् चेतनप्राणी महेश्वर का जीवात्मा में निषेध अथवा सिद्धि नहीं कर सकता है। क्योंकि जब महेश्वर और जीवात्मा का एकत्व अनादिकाल से ही सिद्ध है, तो फिर कोई निजात्मा में महेश्वर का निषेध कैसे कर सकता है ? ऐसा करने से तो सिद्ध वस्तु का निराकरण दोष होगा। अतः इसकी सिद्धि की भी आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि स्वतः सिद्ध वस्तु को पुनः सिद्ध करना व्यर्थ है।[27] माधवाचार्य भी सर्वदर्शनसंग्रह में ऐसी ही आशंका प्रकट करके कहते हैं कि यदि परमेश्वर के स्वरूप (चैतन्य के रूप) में ही आत्मा प्रकाशित होती है अथवा यदि चैतन्य ही आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होता है, तो प्रत्यभिज्ञा (आत्मा द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार) के प्रदर्शन की क्या आवश्यकता है ?[28] तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा और परमात्मा में पहले से ही एकत्व विद्यमान है एवं आत्मा परमात्मा का अपना रूप ही है, तो वह स्वयं अभिव्यक्त हो जायेगी– अतः प्रत्यभिज्ञा के द्वारा महेश्वर को पहचानने की बात हास्यास्पद ही है ? इस स्वाभाविक प्रश्न के उत्तर का समाधान करते हुये उत्पलदेव कहते हैं कि यद्यपि स्वात्मा में महेश्वर के दर्शन होते हैं अर्थात् परमेश्वर का स्वरूप (चैतन्य) कुछ (अंशतः) दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मोह (मायादि) के कारण यह स्पष्टतया (पूर्णरूपेण) दिखलाई नहीं देता है। इसलिये शक्ति (ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति) का प्रतिसन्धान अर्थात् सम्बन्ध स्थापित करने के लिये इस प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही जीवात्मा में विद्यमान ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति का सम्बन्ध महेश्वर की ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के साथ किया जाता है और दोनों के मध्य अद्वैत तत्त्व की स्थापना सम्भव होती है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा आवश्यक होती है।[29] माधवाचार्य भी कहते

---

27. "कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे। अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।।"
–ई०प्र०का०, 1/2
28. "यदि ईश्वरस्वभाव एवात्मा प्रकाशते, तर्हि किमनेन प्रत्यभिज्ञाप्रदर्शनप्रयासेनेति चेत् ?"
–स०द०सं०, पृ० 358
29. "किंतु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते। शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।।"
–ई०प्र०का०, 1/3

हैं कि आत्मा अपनी प्रकाशन शक्ति के कारण सतत प्रकाशित होती रहती है, तथापि माया के कारण उसका यह प्रकाशन अंशत: ही होता है अर्थात् आत्मा में चैतन्य का प्रकाशन तो होता ही है, किन्तु पूर्ण चैतन्य का नहीं– क्योंकि पूर्ण चैतन्य का प्रकाशन ईश्वर दशा में ही होता है। जीवात्मा में माया के कारण ही पूर्ण चैतन्य का प्रकाशन नहीं होता है। साधारण व्यक्तियों को आंशिक चैतन्य का अवभास होता है। इसलिये पूर्णता के अवभास की सिद्धि के लिये दृक् (ज्ञान) शक्ति और क्रिया शक्ति का आविष्कार करके प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है।[30]

प्रत्यभिज्ञा, स्मृति और प्रत्यक्ष में अन्तर

प्रत्यभिज्ञा और स्मृति में बहुत सूक्ष्म अन्तर है। स्मृति तो ऐसा ज्ञान होता है, जो मानसिक संस्कार की उपज होता है। यह इन्द्रिय ज्ञान के पूर्व विषय का विशुद्ध मानसिक ज्ञान होता है। इसलिये पूर्व अनुभूत हुई वस्तु का पुन: विमर्श करना स्मृति व्यापार का कार्य होता है।[31] चूँकि स्मृति आदि में तो पूर्व घटित वस्तु की अनुभूति होती है, इसलिये इसको संस्कारज (संस्कार से उत्पन्न होने वाली) कहा जाता है।[32] परन्तु प्रत्यभिज्ञा भूत संस्कार की उत्पत्ति के कारण होने वाला मात्र मानसिक ज्ञान ही नहीं होती है, प्रत्युत् उसमें स्मर्यमान विषय वास्तव में आँखों के सामने होता है और पूर्व दृष्ट वस्तु के साथ वर्तमान दृश्यमान वस्तु के ऐकात्म्य का ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञा घटित होने के समय न केवल विषय का पूर्व ज्ञान आवश्यक होता है, अपितु इसकी उपस्थिति भी। यथा– यह वही देवदत्त है। यहाँ "यह" शब्द देवदत्त संज्ञक वस्तु के प्रत्यक्ष (वर्तमान) ज्ञान का विषय होने एवं "वही" शब्द उसके भूतकाल से सम्बन्धित ज्ञान का विषय होने का द्योतक है एवं "है" शब्द भूत एवं वर्तमान के उसके ज्ञान का एकत्व प्रदर्शित करता है– अत: ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का इससे यह अन्तर है कि उसमें (प्रत्यक्ष में) वस्तु का इन्द्रिय के साथ साक्षात् प्रथमत: सम्पर्क होता है। अत: इन्द्रिय–वस्तु संस्पर्श अनुभूतिजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। परन्तु यही ज्ञान यदि वस्तु की पुन: विद्यमानता के साथ उसके

---

30. "तत्रायं समाधि:। स्वप्रकाशतया सततमवभासमानेऽप्यात्मनि मायावशाद् भागेन प्रकाशमाने पूर्णतावभाससिद्धये दृक्क्रियात्मकशक्त्याविष्करणेन प्रत्यभिज्ञा प्रदर्श्यते।"
–स०द०सं०, पृ० 358
31. "पूर्वानुभूतत्वेन प्रत्यवमर्श: स्मृतिर्नाम व्यापार:।" –ई०प्र०का०वृ०, 1/24
32. "स्मृत्यादौ तु पूर्वानुभवात्माऽत एव स्मृति: संस्कारजोच्यते।" –तदेव, 1/61

पूर्वानुभव के साथ एकत्व प्रदर्शित करता है, तो प्रत्यभिज्ञा कहलायेगा। यदि केवल अनुभूत वस्तु के मानसिक व्यापार का विषय बनता है और वस्तु अविद्यमान रहती है, तो स्मृति कहलायेगा। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वर्तमानकालिक होता है, जबकि प्रत्यभिज्ञा और स्मृति भूतकाल एवं वर्तमान से सम्बन्धित रहती हैं।

जगत् प्रक्रिया, तत्त्व एवं प्रमाता मीमांसा

भारतीय दार्शनिकों ने जगत् के जड़-चेतन संघटकों के विषय में अतिसूक्ष्मता से गहन विचार किया है। वेद, आगम, उपनिषद्, पुराणादि के अतिरिक्त सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त, चार्वाक और बौद्ध-जैन आदि दर्शनों के प्रणेताओं ने जगत्-प्रपञ्च की संरचना के पीछे पृथक्-पृथक् विचारधारायें प्रस्तुत की हैं। इन सभी में सांख्य दर्शन की पच्चीस तत्त्वों की अवधारणा ही दूसरे दर्शनों में किञ्चित् न्यून-अधिक रूप में स्वीकृत रही है अर्थात् सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों के अतिरिक्त कोई नवीन तत्त्व उनमें नहीं मिलता। परन्तु कश्मीर अद्वैत शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त) में इस विषय में आगम और तर्कसंगत पुनः अधिक चिन्तन किया गया है, जो बहुत ही वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जगत् प्रपञ्च की पहेली के समाधान हेतु कहा गया है कि इस समस्त प्रपञ्च का मूल एक परमसत्ता (परमशिव) है जो प्रकाशविमर्शरूप है। अवभासित (अभिव्यक्त, Manifest) होना उसका स्वभाव है। कर्तृता (Creativity) उसके ऐश्वर्य का सार (essence) है। यदि यह अवभासित होने में असमर्थ होती, तो यह चेतन (संवित्) आत्म न होकर घटादि की भाँति जड़ होती। अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में इस मूलसत्ता (Universal Power) अथवा महेश्वर के सम्बन्ध में कहते हैं कि यदि महेश्वर असीमित रूपों में अवभासित होने के स्वभाव वाला न होता, प्रत्युत् एकरूप में ही स्थिर रहता, तो यह न ही परमसत्ता और न ही संवित् रूप होता– घटादि की भाँति जड़मात्र होता।[33] इसके विश्वोत्तीर्ण (प्रकाश) रूप में "अहं" और "इदं" (विश्व) अभेदरूप में अवस्थित होते हैं अर्थात् परमशिव के चिन्मय रूप के साथ भावों (पदार्थों) के तादात्म्य से उनका भी चिन्मय ही रूप होता है।[34] "अहं" इसका प्रकाशरूप है और "अहं" अथवा स्वयं की अनुभूति (awareness) विमर्शरूप।

33. "अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः। महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्।।" –तं०आ०, 3/100

34. "तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः।" –प्र०हृ०, पृ० 50

यह विमर्श उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति कहलाता है। इसमें चराचर जगत् वट-बीज की भाँति सूक्ष्म (Potency) रूप में अवस्थित रहता है।[35] परमशिव की शक्ति ही चिति, पराशक्ति अथवा परावाक् कही जाती है। परमशिव की यह शक्ति ही विश्व रूप में विकसित होती है[36] यह जगत् विकास ही परमसत्ता का विश्वमय रूप कहलाता है। अत: विश्वोत्तीर्ण अथवा विश्वमय स्थितियों में परमार्थता एक ही मूलसत्ता की होती है। जिस समय वह जगत् रूप में अपना विकास करना चाहते हैं, तो अपने से अभेद रूप में अवस्थित प्रमाता और प्रमेयों (तत्त्वों) को अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति की महिमा से अपने को ही आधार बनाकर[37] नगर-दर्पणवत् पृथक् की भाँति उन्मीलन करते हैं।[38] उन्मीलन से तात्पर्य है अवस्थित का ही प्रकटीकरण, जो पहले (सृष्टि से पूर्व) प्रकाशैकात्म्य से स्थित होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्यों ने जगत् रूप में विकसित समस्त प्रमाताओं (चेतन ग्राहकों) का "शिव" से लेकर "सकल" पर्यन्त सात वर्गों एवं सभी प्रमेयों (जगत्-निर्मातृ-संघटकों-विषय तत्त्वों) का शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में विभाजन किया है। छत्तीस तत्त्वों में विभाजन के अतिरिक्त इनका पञ्च-कलाओं एवं अण्डचतुष्टयात्मक रूपों में भी वर्गीकरण किया जाता है। अब क्रमश: इनके स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है-

परमसत्ता (परमशिव)

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परमसत्ता (परमशिव) शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श के सामरस्य को माना गया है। सामरस्य दो पृथक् तत्त्वों का नहीं, अपितु एक ही वस्तु के दो पहलूओं (Aspects) में वह समानता, एकरसता अथवा अभेदता का परिचायक है, जो अग्नि और उसकी उष्णता, जल और उसकी शीतलता, पुष्प और उसकी सुगन्धि के मध्य होती है। शिव और शक्ति कभी पृथक् नहीं होते हैं।[39] विश्वोत्तीर्ण दशाका नाम

---

35. "यथा न्यग्रोधबीजस्थ: शक्तिरूपो महाद्रुम:। तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।।"
    --परा०त्रिं०, 34
36. (क) "चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:।" -प्र०हृ०, सू० 1
    (ख) "सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फार:।" -तं०आ०, भा० 2, पृ० 201
37. "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।" -तदेव, सू० 2
38. "विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति।" -तदेव, पृ० 48
39. "न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी। न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्।।"
    --शि०दृ०, 3/2, 7

शिव और विश्वमय अवस्था का नाम शक्ति कहा जाता है। शिव प्रकाशरूप है, जिससे तात्पर्य है– नित्य सत्तारूप अहं, जिसके बिना किसी का भी अस्तित्व सम्भव नहीं होता। शक्ति विमर्शरूप है– जिससे तात्पर्य है अकृत्रिम (स्वाभाविक) रूप से अहं का विस्फुरण (प्रतीति, awareness)। क्षेमराज कहते हैं कि यदि प्रकाशात्मा परमशक्ति विमर्श स्वभाव नहीं होता, तो वह अनीश्वर ही होता और इस प्रकार जड़ होता।[40] क्योंकि उत्पलदेव अनुसार भी प्रकाश तो जड़ स्फटिक का भी होता है, परन्तु उसे स्वयं ही प्रतीति नहीं होती।[41] यह विमर्श ही चित्, चैतन्य, स्वरसोदित, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द और कर्तृता आदि संज्ञाओं से परमात्मा से सम्बन्धित किया जाता है।[42]

महाकवि कालिदास भी शिव और शक्ति को शब्द और अर्थ की भाँति परस्पर संपृक्त मानते थे।[43] आद्य जगद् गुरु शंकराचार्य भी शिव का शक्ति के कारण ही शक्तिमान् होना, जगत्-रचना आदि कार्यों में समर्थ होना मानते हैं और शक्ति के बिना शिव की शवता (जड़ता) स्वीकार करते हैं।[44] श्रीसिद्धमहारहस्य में अमृतवाग्भव मुनि भी प्रकाश (शिव) एवं प्रकाशता (शक्ति) की अभिन्नता अभिव्यक्त करते हैं।[45] मातृका चक्र विवेक में ज्ञान और क्रिया शिव और शक्ति के द्योतक माने गये हैं। इनकी यमलता (सामरस्य) ही सिद्धमत में परमसत्ता

---

40. "इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहम्-इति विस्फुरणम्। यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत्।" –परा॰प्रा॰, 1

41. "स्वभासमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा। प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।।" –ई॰प्र॰का॰, 1-42

42. "–एष एव विमर्शः – चित्, चैतन्य, स्वरसोदित, परावाक्, स्वातन्त्र्यम, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, सारो, हृदयं, स्पन्दः – इत्यादि शब्दैरागमेषु उद्घोष्यते।" –परा॰प्रा॰, पृ॰ 2

43. "वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।।" –रघु॰, 1/4

44. "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्, न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।" –सौ॰ल॰, 1

45. "शाकः काशश्च काशश्च शाको भवति सर्वथा। यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते।।" –सिद्ध॰महा॰, का॰ 20, पृ॰ 7

46. "तस्मादयोः ज्ञानक्रिययोः यमलतैव मतं हि सैद्धम्।" –मा॰च॰वि॰, 1/16

कही गई है।[46] प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव, शक्ति और जगत् में पारमार्थिक रूप से अभेद माना गया है।[47] इस प्रकार जगत् रूप में विकसित होने पर भी उनके प्रकाशात्मरूप का कभी तिरोधान नहीं होता, प्रत्युत् इसी से उसकी प्रतिष्ठा होती है। अतः वह इसका निरोध कैसे कर सकता है ?[48] परमसत्ता प्रकाशमात्र स्वरूप होते हुये पूर्ण, निरपेक्ष एवं परानन्द स्वरूप है, जो अपनी माया शक्ति के प्रभाव से आत्म-अख्याति करके अतिरिक्त आनन्द की भाँति अर्थात् प्रचुर आनन्द उच्छलता से तत्त्वता को प्राप्त होती है। इस प्रकार उनकी जगत् की रचना की इच्छा ही इसकी अवस्थिति में कारण होती है।[49] अभिनवगुप्त कहते हैं कि शास्त्रों में अणु-अणु में परमसत्ता का सर्वरूप एवं एक-एक तत्त्व में भी एकत्र छत्तीस तत्त्वों का होना निरूपित है।[50] वह परमसत्ता शरीरादि कल्पित प्रमातृपद में भी अकल्पित अहं-विमर्शमय सत्यप्रमाता के रूप में स्फुरित होती है।[51] वह परचैतन्य स्वरूप है।[52] श्रीमृत्युजिद्भट्टारक (नेत्रतन्त्र)[53] और श्रीविज्ञान भैरव में भी ऐसी ही बात कही गई है।[54] चूँकि भावाभावरूप (चराचर) विश्व का स्वभाव (आत्मा) चैतन्य है, इसीलिये उसकी सिद्धि के लिये प्रमाणादि असमर्थ हैं, क्योंकि उनकी स्वयं की सत्ता भी तो चैतन्य के अधीन होती है। चैतन्य सदा प्रकाशमान होने से किसी द्वारा भी बाधित नहीं हो सकता है। अपने शिर की छाया के अपने पाँवों द्वारा

---

47. "क्वचिदेव भवान् क्वचिद् भवानी सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।
परमार्थ पदे तु नैव देव्या भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः।।" –शि०स्तो०, 18/2

48. "अनेन च जगता अस्य भगवतः प्रकाशात्मकं रूपं न कदाचित् तिरोधीयते। एतत्प्रकाशनेन प्रतिष्ठां लब्ध्वा प्रकाशमानमिदं जगत् आत्मनः प्राणभूतं कथं निरोद्धुं शक्नुयात्, कथं च तन्निरुध्य स्वयमवतिष्ठेत्।" –परा०प्रा०, पृ० 3

49. "शिवो भगवान् बोधमात्ररूपः पूर्णो निरपेक्षः आनन्दात्मा सदैव। तथा मायाशक्तिवशात्माख्यातितः आनन्दातिरिक्त इव तत्त्वतामेति जगन्निर्माणेच्छारूपेण स्थातुम्।।"
–शि०दृ०वृ०, पृ० 29, 30

50. "प्रदेशमात्रमपि ब्रह्मणः सर्वरूपम् एकैकत्रापि च तत्त्वे षट्त्रिंशत्तत्त्वमयत्वं –
शास्त्रेषु निरूपितम्। –परा०त्रि०वि०, पृ० 139

51. "तस्यैव शरीरादि-कल्पितप्रमातृपदेऽपि अकल्पिताहंविमर्शमय-सत्यप्रमातृत्वेन स्फुरणात्।"
–शि०सू०वि०, पृ० 11

52. "चैतन्यमात्मा।" –शि०सू०, 1/1

53. "परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम्। चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते।"
–ने०तं०, 8/28

54. "चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो न अस्ति कुत्रचित्। अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवजिज्जनः।"
–वि०भै०, श्लो० 100

लाँघने के समान इस वैन्दवी कला (ज्ञातृ शक्ति=विमर्श शक्ति) का जानना असम्भव है।[55] देश-काल और आकार इसी द्वारा भासित होने से यह उन द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता है। यह नित्य, व्यापक, अमूर्त आदि अनन्त धर्मों से युक्त है और अनाश्रित शिव पर्यन्त सभी परतन्त्रवृत्ति होने के कारण परिपूर्ण स्वातन्त्र्य परमशिव का ही होता है।[56] लौकिक, चार्वाक, वैदिक, योगाचार, माध्यमिक प्रभृति मतों द्वारा स्वीकृत क्रमशः शरीर, प्राण, बुद्धि, शून्यादि आत्मा नहीं होता है, प्रत्युत् चैतन्य ही आत्मा होता है।[57] यह स्वात्म-चैतन्य ही सभी प्राणियों का एक ही महेश्वर है।[58] कर्ता-ज्ञातारूप समस्त प्राणियों के हृदय में यह स्वात्मेश्वर ही सदा स्फुरित होता है।[59(i)] परन्तु इस प्रकार पाणितल स्थित हुआ भी महेश्वर मन्दभाग्य को मणि की अप्राप्ति के समान मोह के कारण सहस्रों स्पष्ट युक्तियों से भी अप्राप्य ही रहता है[60] अतः प्रत्यभिज्ञान द्वारा ही सुलभ[59(ii)] होता है। आत्मा के चैतन्यस्वरूप से तात्पर्य है, जो सर्वज्ञान एवं सर्वक्रियादि करने में स्वतन्त्र[61] हो–जैसा कि महर्षि पाणिनि ने भी स्वीकार किया है।[62] परमसत्ता की अनन्त शक्तियाँ होने पर भी[63] पाञ्च मुख्य शक्तियाँ चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया मानी[64] गई हैं। इनमें से भी उत्तरवर्ती तीन अधिक प्रसिद्ध हैं[65] :–

---

55. "यतः चैतन्यं विश्वस्य स्वभावः तत एव तत्साधनाय प्रमाणादि वराकम् अनुपयुक्तम्; तस्यापि स्वप्रकाशचैतन्याधीनसिद्धिकत्वात्, चैतन्यस्य च प्रोक्तयुक्त्या केनापि आवरीतुम् अशक्यत्वात् सदा प्रकाशमानत्वात्। यदुक्तं श्रीत्रिकहृदये – "स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते। पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं वैन्दवी कला।।" –शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 13
56. "परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् .... तच्च परमशिवस्यैव भगवतः अस्ति; अनाश्रितान्तानां तत्परतन्त्रवृत्तित्वात्।" –तदेव, पृ॰ 6
57. "न शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिक-चार्वाक-वैदिक-योगाचार-माध्यमिकाद्यभ्युपगतानि आत्मा; अपि तु यथोक्तं चैतन्यमेव।" –शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 11
58. "स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः।" –ई॰प्र॰का॰, 4/1
59. "स्वात्मैवायं स्फुरति सकलप्राणिनामीश्वरोऽन्तः कर्ता ज्ञातापि च यदि परं प्रत्यभिज्ञास्य साध्या।" –ई॰सि॰, 56
60. "समुज्ज्वलन्यायसहस्रसाधितोऽप्युपैति सिद्धिं न विमूढचेतसाम्। महेश्वरः पाणितलस्थितोऽपि सन् पलायते दैवहतस्य सन्मणिः।" –ई॰सि॰, 55
61. "चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः।" –शि॰सू॰वि॰, पृ॰ 6
62. "स्वतन्त्रःकर्ता।" –अष्टा॰, 1-4-54
63. "शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः।" –तं॰सा॰, आह॰ 4, पृ॰ 28
64. "आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।।" –शि॰दृ॰, 1/2
65. "इत्येवं मुख्याभिः (पञ्चभिः) शक्तिभिर्युक्तोऽपि वस्तुत इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तियुक्तः ... शिवरूपः।" –तं॰सा॰, आह॰ 4, पृ॰ 6

1. **चित्शक्ति :–** शिव की यह शक्ति प्रकाशरूप, अवभासनात्मक होती है[66], जिससे वह स्वयं सतत प्रकाशित रहता है, उस समय भी जब शून्य ही शून्य होता है। प्रकाश अनन्योन्मुख विमर्श "अहम्" को कहते हैं।[67] प्रकाशरूप आत्मा का इच्छास्फुरण विश्व भी प्रकाशरूप ही होता है।[68]

चेतना का स्वरूप ही शक्तिरूप है, इसलिये इसे चित् शक्ति कहते हैं। शिव की स्वयंप्रकाशना, आत्म-चेतनता इसी से होती है। समस्त विश्व भी इसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है।[69]

2. **आनन्द शक्ति :–** परमशिव की पूर्ण आह्लादात्मक और मोदात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य शक्ति आनन्द शक्ति कहलाती है।[70] यह सदैव अपने में सर्वथा सन्तुष्ट होने से पूर्ण विश्रान्तियुक्त होती है एवं अन्य की अपेक्षा नहीं रखती।[71] पर-निरपेक्ष और सर्वथा पूर्ण होने से ही वह आनन्द रूप होती है।[72] वास्तव में चित् (प्रकाश) और आनन्द (विमर्श, परस्पन्द) का सामरस्य ही परमसत्ता कही जाती है।[73]

3. **इच्छा शक्ति :–** यह सर्वसामर्थ्य सम्पन्न एवं अप्रतिहत शक्ति है। यह सर्जनात्मक स्फुरण है, जिसके द्वारा परमशिव अपने आनन्द के प्रकाशन की इच्छा करता है। समस्त प्रमाता-प्रमाण और प्रमेय रूपों में आत्म-प्रकाशन की इच्छा इसी से सम्भव होती है। इसीलिये इसे दैवी चमत्काररूपा भी कहा जाता है।[74]

4. **ज्ञानशक्ति :–** शिव की यह वह सामर्थ्य (शक्ति) है, जिसके द्वारा अपने प्रति एवं परस्पर दूसरों के प्रति सम्बन्ध का अनुभव होता है अर्थात् ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान होता है।[75]

---

66. "प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः।" –तं०सा०, आह० 1, पृ० 6
67. "प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति।" –ई०प्र०वि०, 3-1-4
68. "प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो।" –ई०प्र०का०, 1/34
69. "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।" –कठ० उप०, 2-5-15 एवं मुण्ड० उप०, 2/2/10 एवं श्वेत० उप०, 6/14
70. "स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।" –तं०स०, आह० 1, पृ० 6
71. "अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः।" –ई०प्र०वि०, भा० 1, पृ० 207
72. "स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो।" –शि०दृ०वृ०, पृ० 6
73. द्रष्टव्य – म.म. गोपीनाथ कविराज – कल्याण शिवांक
74. "तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः।" –तं०सा०, आह० 1, पृ० 6
75. "एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्। ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।।" –मा०वि०तं०, 3/8

परमशिव की इच्छा शक्ति के ज्ञेयतारूप धारण करने अथवा कार्योन्मुख होने के प्रकाशन की सामर्थ्य ही ज्ञानशक्ति अभिहित होती है।[76] ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय रूप शिव जब विश्व-सिसृक्षा का आमर्श करते हैं, तो उनकी यह सामर्थ्य ही ज्ञान शक्ति कही जाती है।[77]

5. **क्रिया शक्ति :–** प्रत्येक प्रकार का, कोई भी रूप धारण करने की एवं प्रत्येक कार्य करने की सामर्थ्य को क्रियाशक्ति कहते हैं।[78] यह समस्त विश्व प्रपञ्च क्रियाशक्ति का ही विकास है।[79] शिव जिस शक्ति द्वारा विश्वात्मक भाव से विविध भावों (पदार्थों) का पार्थक्य अवभासित करते हैं– वह "भासना शक्ति" ही क्रिया शक्ति अभिहित होती है।[80]

परमशिव की ये शक्तियाँ उनकी परा, परापरा और अपरा– सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहती हैं और उसका इनसे कभी भी वियोग नहीं होता है।[81] वास्तव में शक्तियों के ये विविध रूप एक ही पराशक्ति के नाना अवस्थाओं में विकसित हुये रूपमात्र हैं– अतः परमार्थतः एक ही शक्ति है।[82] सकल जगत् परमसत्ता की शक्ति का ही स्फुरणरूप विकास है।[83] परमशिव का यह स्वभाव है कि वह सतत सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय (तिरोधान) और अनुग्रहरूप पञ्च कृत्यों को करता ही रहता है।[84]

1. **सृष्टि :–** बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब चिद्रूप महेश्वर नीलादि अन्तः स्थित विषयों को नियत देश, काल और आकारादि के रूप में अवभासित करते हैं,

---

76. "परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं तत् प्रकाशनशक्तिरूपता ..... सा ज्ञानशक्तिः।" --शि०दृ०वृ०, पृ० 18
77. "आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः।" --तं०स०, आह० 1, पृ० 6
78. "सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः।" --तं०सा०, आह० 1, पृ० 6
79. "क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः।" --ई०प्र०वि०, भा० 2, पृ० 42
80. "भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।" --मा०वि०तं०, 1/90
81. "एवं न जातुचित् तस्य वियोगस्त्रितयात्मना। शक्त्या निर्वृतचित्त्वस्य तदभागविभागयोः।।" --शि०दृ०, 1/6, 7
82. "ततश्च परमार्थतः एकैव शक्तिःशक्त एवास्तीति प्रतिपादितम्।" --शि०दृ०वृ०, पृ० 17
83. "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।" --शि०सू०, 3/30
84. (क) नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायने।" --प्र०हृ०, मं०श्लो० 1
    (ख) "सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
    अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।।" --स्वच्छ०तं०, 1/3

तब नियत देश, काल आदि में जो अवभासित होता है– वह उनकी सृष्टि क्रिया कहलाती है। इसमें अव्यक्त रूप को व्यक्त किया जाता है, न कि कोई नवीन वस्तु उत्पन्न की जाती है।[85]

2. **स्थिति :–** उस नीलादि के आभास का बना रहना, उसकी स्थिति क्रिया कहलाती है अर्थात् विद्यमान को स्थिर करना स्थिति क्रिया है।[86]

3. **संहार :–** विषयों का अन्य देश और काल में आभासित होना उनकी संहार क्रिया है अर्थात् व्यक्त को अव्यक्त रूप में ले जाना उनकी संहार क्रिया है, न कि किसी वस्तु का सर्वथा विनाश करना।[87]

4. **विलय :–** भेद से अवभासित होना उनकी विलय क्रिया है अर्थात् अपने पूर्णस्वरूप को छिपाकर मायावश अपूर्णस्वरूप (जीव, बद्ध, अणुरूप) समझना एवं जगत् को अपने से पृथक् रूप में जानना– उनकी तिरोधान क्रिया है।[88]

5. **अनुग्रह :–** विषयों का चित्प्रकाश के साथ तादात्म्य से स्फुरित होना, परमसत्ता की अनुग्रह क्रिया कहलाती है। तात्पर्य यह है कि गुरु, शास्त्र अथवा स्वयं द्वारा शक्तिपात करके स्वस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराकर शिव रूप में अवस्थित होना उनकी अनुग्रह क्रिया कहलाती है।[89]

जीवदशा में भी उनका पञ्चकृत्यों का कार्य प्रकाशन, आस्वादन, आत्मबोध, बीजावस्थापन और विलापन[90] भेद से सतत चलता रहता है।[91] यह जीवरूपता (पशुभाव) चित्स्वरूपवत् शक्ति संकोच के कारण मल (अज्ञान) से आवृत होने के कारण होती है[92], जोकि अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान ही होता है।[93] इस प्रकार चिति भगवती (परा संवित्) ही चेतन पद (असंकुचित प्रमाता की

---

85. "चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति, तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टृता।" –प्र०हृ०, पृ० 51, 52
86. "नीलाद्याभासांशे स्थापकता।" –प्र०हृ०, पृ० 52
87. "अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता।" –प्र०हृ०, पृ० 52
88. "भेदेन आभासांशे विलयकारिता।" –प्र०हृ०, पृ० 52
89. "प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता।" –प्र०हृ, पृ० 52
90. "आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि।" –प्र०हृ०, सू० 11
91. "तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति।" –तदेव, सू० 10
92. "चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतःसंसारी।" –तदेव, सू० 9
93. "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।" –तदेव, सू० 12

अवस्था) से उतर कर चित्त (व्यक्तिगत संवित्) बन जाती है, क्योंकि वह चेत्य (चेतन द्वारा ग्राह्य पदार्थ) के अनुकूल संकुचित हो जाती है।[94] अर्थात् पति अवस्था की अबाधित सामर्थ्य वाली शक्तियाँ ज्ञान, क्रिया और माया ही भेद की दशा वाली पशुभूमि में सत्त्व, रजस् और तमस् का रूप ग्रहण कर लेती हैं।[95] इसीलिये त्रिशिरोमत में कहा गया है कि एक त्रिशिरो भैरव ही समस्त विश्व में व्याप्त होकर साक्षात् अवस्थित है।[96] स्पन्दशास्त्र[97] और गायत्रीतन्त्र[98] एवं आगम[99] और प्रत्यभिज्ञा टीका में भी यही रहस्य उक्त है।[100] अत: अपने पारमार्थिक स्वरूप के पूर्ण ज्ञान की अवस्था में चित्त ही अन्तर्मुखीभाव से चेतनपद पर पहुँच जाने से चिति हो जाता है।[101] यह चिति के विकास से ही जगत् का उदय, स्थिति और प्रसरण समाप्ति पर संहार हो जाता है।[102] अत: सब कुछ शिवशक्ति स्वरूप ही है। अर्थात् समस्त भुवन-भाव, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, बन्ध-मोक्ष, शिव प्रभृति धरणिपर्यन्त तत्त्व[103] इत्यादि सभी एक परमसत्ता के ही विकास है।[104] यही तथ्य श्वेताश्वतरोपनिषद् में उद्घाटित किया गया है।[105] अत: विश्वोत्तीर्ण, विश्वात्मक, परमानन्दमय, प्रकाशैकघनादि स्वरूप परमशिव में

---

94. "चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्।" –तदेव, सू० 5

95. "स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।।" ई०प्र०का०, 1-4-3

96. "त्रिशिरोभैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः।" –त्रिशिरोमते– प्र०हृ०, पृ० 52

97. "तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।" –स्प०का०, 3/2,

98. "शिवशक्त्यात्मकं जीवं यः पश्यति सः वैष्णवः।" –गा०तं०, श्लो० 147

99. "मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः।" –आगमे – प्र०हृ०, पृ० 76

100. "शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं, शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति।" –ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-टीकायाम्– प्र०हृ०, पृ० 76

101. "तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।" –प्र०हृ०, सू० 13

102. "अस्यां हि (चितिभगवत्याः) प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।" –प्र०हृ०, पृ० 44

103. "स्वस्मिन्कार्येऽथ धर्मौघे यद्यपि स्वदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तन्मादव्याप्तृभावतः।। तत्तत्त्वं ....।" –तं०आ०, आह० 9, 4-5

104. "स चैको द्विरूपत्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः।" –प्र०हृ०, सू० 7

105. "य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।" –श्वते०उप०, 4/1

शिवादि-धरण्यन्त सब कुछ अभेद से ही स्फुरित होता है। इनसे पृथक् कोई ग्राहक-ग्राह्य है ही नहीं, प्रत्युत् वह ही इस प्रकार नाना वैचित्र्यों से प्रकाशित होता है।[106] विश्व की आभासरूपता में तत्त्वों का क्रम वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है।[107] पूर्व तत्त्व उत्तरतत्त्व में सर्वत्र व्यापक रहते हैं[108] एवं पूर्व-पूर्व तत्त्वों की उत्तर-उत्तर तत्त्वों से गुणोत्कृष्टता[109] होती है। परमसत्ता अभेदभूमि से भेदाभेद और पुनः भेद भूमिका में अवरोह क्रम से विश्व का अवभासन करती हैं।[110]

अभेद भूमि (शुद्धाध्वा)

1. **शिव तत्त्व :–** परमशिव की अवस्था में विश्व उनसे तादात्म्यभाव से विद्यमान रहता है, उसे विश्वोत्तीर्ण दशा कहते हैं। परन्तु जब विश्वमय रूप की अभिव्यक्ति के लिये अपनी स्वातन्त्र्य-इच्छा से स्पन्दमान् होते हैं, तो उनका यह आद्य स्पन्द शिव तत्त्व अभिहित किया जाता है।[111] वह अपने निषेध व्यापार रूप शक्ति से चिदैक्य की अख्याति कर देते हैं[112]– जिस दशा का पर्याय अनाश्रित शिव है[113], इसी चिद्रस-घनीभूतता से पुनः समस्त तत्त्व, भुवन, भाव एवं विविध प्रमाताओं के रूप में प्रथित होते हैं।[114] विश्व का निषेध हो जाने से शिव तत्त्व प्रकाशमात्र ही होता है।[115] इसलिये शुद्ध "अहं" रूप होता है[116], जिसमें "अस्मि" की अनुभूति नहीं होती है। यह आभास पूर्णतया अभेद भूमि

---

106. "श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।" –प्र०हृ०, पृ० 51
107. "षट्त्रिं० त० सं०, पृ० 1
108. "क्रमेऽपि च पूर्वं पूर्वं उत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ।" –वि०भै०वि०, पृ० 47
109. "यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते।" –मा०वि०तं०, 2/60
110. स्प० नि०, पृ० 14
111. "यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।" –षट्०त्रिं०त०सं०, का० 1, पृ० 1
112. "निषेधव्यापाररूपा ....।" –प०सा०टी०, का० 4
113. "श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचितेन रूपेण अवबिभासयिषु पूर्वं चिदैक्याख्यातिमयानाश्रितशिवपर्यायशून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति।" –प्र०हृ०, पृ० 51
114. "ततः चिद्रसाश्यानतारूपाशेषतत्त्वभुवनभाव-तत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते।" –प्र०हृ०, पृ० 51
115. "चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्।" –तं०सा०, पृ० 74
116. "अनन्योन्मुखः ... अहंप्रत्ययः ....।" –ई०प्र०वि०, भा० 2, पृ० 196

का आभास होता है।[117] यह तत्त्व माया से अतीत होता है[118] और इसी की स्वप्रकाशता (स्वतन्त्रता) की भित्ति पर समस्त सृष्टि प्रपञ्च अवस्थित होता है।[119] इसमें चित्शक्ति का प्राबल्य होता है।

शिवतत्त्व दशा का अधिष्ठाता भट्टारक शिव होता है। और इस भूमि में "शाम्भव" प्रमाता अवस्थित होते हैं। शिव की भाँति ही इन्हें "अहं+इदं" पूर्णाभेद की प्रतीति होती है और किसी भी प्रकार के मल राहित्य से इन्हें "अकल" भी कहा जाता है। इनका अनुभव भी शुद्ध "अहं" मात्र होता है।

2. **शक्तितत्त्व :–** वास्तव में शिव और शक्ति तत्त्व नित्य और अभिन्न होते हैं, अतः इनकी अभिव्यक्ति शाश्वत एकसाथ रहती है। केवल औपचारिकतावश शक्ति तत्त्व को दूसरा तत्त्व कहा जाता है। इस तत्त्व के कारण ही शिव तत्त्व अभिव्यक्त होता है। वास्तव में सभी तत्त्व परमसत्ता के शक्तिरूप स्पन्द ही हैं।[120] चिदैक्य की अख्याति करने के कारण इसे निषेध व्यापाररूपा कहा जाता है। यह परमसत्ता के आनन्द की ही विकसित दशा होने से आनन्दानुभवरूप और अशेष सृष्टि की बीजावस्था (योनि) रूप है। सम्भवतया शंकराचार्य और श्रीकृष्ण इसी को लक्षित करके क्रमशः प्रकृति को ब्रह्म[121] और अपना मूलाश्रय बतलाते हैं।[122] महेश्वरानन्द अनुसार जब शिव अपने हृदय में स्थित अर्थतत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिये उन्मुख होता है, तब वह शक्ति अभिहित होता है।[123] यह शिव की सर्जनोन्मुखता[124] अतएव वास्तव में प्रथम स्पन्द एवं "अहं–विमर्श" रूप है,

---

117. "शक्तिश्च शक्तिमद्रूपादव्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव।।" –बो०पं०, श्लो० 3

118. "मायातीतं शिवं तत्त्वं" ..... "अधोव्याप्तिः शिवस्यैव स्वप्रकाशस्य सा" .....।
–श्रीकिरणायां – ई०प्र०वि०वि०भा० 3, पृ० 257

119. "शिवतत्त्वं हि सर्वपदार्थानां वपुः।
तद्भित्तिपृष्ठे च सर्वभावचित्रनिर्भासः।।" –ई०प्र०वि०वि०, भा० 3, पृ० 257

120. "सर्वाणि हि तत्त्वाणि भगवतः शक्तिरूपाणि स्पन्द एव।" –ई०प्र०वि०वि०, भा०3, पृ० 265

121. "प्रकृतिर्ब्रह्म।" –ब्र०सू०शां०भा०, 1-4-27

122. "मम योनिर्महद्ब्रह्म।" –भ०गी०, 14/3

123. "स एव विश्वमीक्षितं स्थातुं कर्तुं च उन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावःकथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः।।" –महा०मं०, 14

124. "अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छाशक्तितत्त्वम्।"
–परा०प्रा०, पृ० 6, 7

अतः इसके परप्रमाता का अनुभव "अहमस्मि" होता है। वस्तुतः उक्त दोनों तत्त्व एक ही हैं।[125]

शक्ति तत्त्व की अधिष्ठाता शक्ति होती है और इस अवस्था के प्रमाता "शाक्त" कहे जाते हैं। ये भी मलरहित, अकल प्राणी होते हैं। इनका अनुभव "अहमस्मि" होता है। विमर्श की प्रधानता होने से इनमें आनन्दातिरेक होता है। अतः इसमें आनन्दशक्ति का प्राबल्य होता है।

भेदाभेद भूमिका

3. **सदाशिव तत्त्व :–** शिव और शक्ति तत्त्व के सतत अभासमान होने के कारण वास्तव में यह प्रथम सृष्टि होती है, जिससे सत् का ज्ञान होता है– अतः इसे सादारव्य तत्त्व भी कहते हैं।[126] इस दशा के भट्टारक सदाशिव अधिष्ठाता होते हैं और प्रमाताओं का अनुभव "अहं-इदं" होता है, जिसमें प्राधान्य तो "अहं" का ही रहता है और "इदं" (विश्व) गौण रहता है अर्थात् वह अस्फुट "इदं" को अपना ही अंश समझता है। प्रमाता मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं, जिन्हें विश्व भेदाभेद दृष्टि से प्रकाशित होता है। इनमें भी कोई मल नहीं होता, परन्तु विश्व[127] अस्फुट रूप से भासित होने के कारण पूर्णतः निर्मल भी नहीं होते। भेद उन्मुख-सा होने लगता है। अतः शुद्धाशुद्ध प्रमाता कहलाते हैं। कलाकार के मन में अस्फुट चित्र की भाँति विश्व अस्पष्ट भासित होने से इसमें इच्छा शक्ति का प्राधान्य रहता है।[128] अतः यह शिव का विश्व-सिसृक्षा के लिये अन्तः निमेष होता है।[129]

4. **ईश्वर तत्त्व :–** जिस प्रकार शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द सदाशिव तत्त्व कहलाता है, उसी प्रकार उसके बहिर्मुख स्पन्द को "ईश्वर तत्त्व" कहते हैं।[130] इसमें इदन्ता का अंश भी अधिक स्फुट रूप से प्रकाशित होता है।

---

125. "शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्।" –वि॰भै॰वि॰, पृ॰ 22
126. "सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुदितं तत्सादारव्यं तत्त्वम्।" –ई॰प्र॰वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 191
127. "तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादित-अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं, तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः।" –प्र॰हृ॰, पृ॰ 49
128. "तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्।" –षट्॰त्रिं॰त॰सं॰, वि॰, पृ॰ 3
129. "निमेषोऽन्तः सदाशिवः।" –ई॰प्र॰का॰, 3/3
130. "ईश्वरो बहिरुन्मेषः।" –तदेव

क्षेमराज अनुसार दोनों भाव समान रूप से स्पष्ट अवभासित होते हैं और प्रमाता "मन्त्रेश्वर" कहलाते हैं, जिनमें कोई मल नहीं होता। इनकी समलता इतनी ही होती है कि इनमें भेद का बीज अंकुरित-सा होने लगता है।[131] राजानक आनन्द अनुसार प्रमेय समूह अधिक स्फुट होने से इसमें ज्ञान शक्ति का प्राधान्य रहता है।[132] यहाँ का दृष्टिकोण "इदं-अहं" होता है।[133] भट्टारक ईश्वर इसके अधिष्ठाता होते हैं, जो माया से अतीत होते हैं एवं परमेश्वर के लीलावश अवतारस्वरूप होते हैं।

5. **सद्विद्या तत्त्व :–** इसमें "अहं" और "इदं" दोनों परामर्श समाधृत तुला के पलड़ों के समान एक बराबर होते हैं।[134] यहाँ अनन्त भट्टारक अधिष्ठाता होते हैं और प्रमाता "मन्त्र" कहलाते हैं। इनका परामर्श "अहमिदमस्मि" होता है, जो परापर शुद्ध[135] दृष्टि वाला होने से "शुद्ध विद्या" तत्त्व भी अभिहित होता है।[136] यद्यपि दोनों परामर्श एकसम होते हैं, तथापि दोनों की पृथक् विशिष्टता प्रतीत होती है। भेद सार वाला विश्व प्रमेय होता है।[137]

शुद्ध विद्या से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों के अधिष्ठाता अनन्त भट्टारक ही होते हैं। इस सद्विद्या की अवस्था पर्यन्त समस्त परामर्श चैत्य होता है, अतः "शुद्धाध्वा" कहलाता है। क्योंकि यहाँ तक महेश्वर के स्वरूप का गोपन नहीं होता है। परापर अनुभव से पहले जो शुद्ध और अविभक्त "इदं" रूप या ईकाई था, यहाँ वैसा न होकर "इदं सर्वं" रूप समष्टि अहंकार हो जाता है। शुद्धविद्या तत्त्व में क्रिया शक्ति का प्राधान्य रहता है।[138] शुद्धविद्या तत्त्व सदाशिव तत्त्व और

---

131. "ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः।" –प्र०हृ०, पृ० 50
132. (क) "अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः।" –षट्०त्रिं०त०सं०वि०, पृ० 4
(ख) "ज्ञानशक्ति प्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम्।" –तं०सा०, आह० 8, पृ० 74
133. "भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमंशं निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधान-मीश्वरतत्त्वम् इदमहमिति।" –तं०आ०वि०, भा० 6, पृ० 50
134. "सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियोः।" –ई०प्र०का०, 3/3
135. "अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा।।" –ई०प्र०का०, 3/5
136. "तदेषां यदेवं पारमार्थिकं रूपं तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम्।।"
–ई०प्र०वि०, भा० 2, पृ० 198
137. "विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठितो बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः, तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्।" –प्र०हृ०, पृ० 50
138. "क्रियाशक्ति प्राधान्ये विद्या तत्त्वम्।" –तं०सा०आह० 8, पृ० 74

ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठातृ-देवताओं का करणस्थानीय तत्त्व है।[139] जिस प्रकार परमशिव का बहिरौन्मुख्य शक्तितत्त्व अभिहित होता है, वैसे ही सदाशिव और ईश्वर का बहिरौन्मुख्य शुद्धविद्या तत्त्व कहलाता है।[140] प्रमाताओं को "मन्त्र" के अतिरिक्त "विद्येश्वर" भी कहते हैं। इनमें मायीय मल का आरम्भ हुआ-सा प्रतीत होता है।

महामाया

विद्या तत्त्व के भीतर कई एक अवान्तर सोपान भी होते हैं। उनमें महामाया तत्त्व का स्थान शुद्धविद्या तत्त्व से कुछ नीचे और तिरोधान करने वाली माया से कुछ ऊपर माना जाता है। इसमें विज्ञानाकल (विज्ञानकेवली) प्रमाता होते हैं, जो कर्तृता से शून्य होते हैं और शुद्ध बोधरूप होते हैं। उसी प्रकार उनसे अभिन्न तथा पूर्व दशा में परिचित सकल और प्रलयाकल उनके प्रमेय होते हैं।[141] "अहं" और "इदं" दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है। इनका परामर्श "अहं-अहं–इदं-इदं" होता है एवं इनमें क्रियाशक्ति का प्राधान्य होता है। अद्वैत शैवों ने इस अवस्था को सांख्य पुरुष और शून्यब्रह्मवाद के समान बताया है।[142] स्वरूप में कर्तृता का संकोच होने से एक प्रकार काआणव मल एवं भेद प्रतीति से किञ्चित् मायीय मल भी यहाँ होता है और कार्ममल इनमें नहीं होता।[143] इस दशा में मात्र भेद का उल्लास होता है– अतः यह माया से भिन्न है एवं शुद्धविद्या से भी इसका यही भेद है।

भेदभूमि (अशुद्धाध्वा अथवा मायाध्वा)

विद्यातत्त्व के पश्चात् की दशा में परमशिव के शुद्ध स्वरूप का गोपन हो जाता है; इसलिये इसे अशुद्धाध्वा कहते हैं। स्वरूप गोपन एवं सार्वभौमिक अनुभव के स्थान पर सीमित अनुभव (भेद) का प्रारम्भ करने वाला मुख्य

---

139. "तदधिष्ठातृदेवताद्ध्यगतं "करणं" विद्यातत्त्वम्।" –ई॰प्र॰वि॰, भा॰ 2, 3/1/5

140. "यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वं तथा सदाशिवेश्वरयोरपि विद्यातत्त्वम्।" –तं॰अ॰वि॰, भा॰ 6, पृ॰ 50, 51

141. "मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मानः, तादृगेव तदभेदसारं सकल-प्रलयाकलात्मकपूर्वावस्थापरिचितम् एषां प्रमेयम्।" –प्र॰हृ॰, पृ॰ 50

142. "शुद्धबोधानां ... ते च सांख्यपुरुषप्राया विज्ञानाकला उच्यन्ते।" –ई॰प्र॰का॰वृ॰, पृ॰ 65, 66

143. "कार्ममलास्पर्शी विज्ञानकेवलिरूपः।" –शि॰दृ॰दृ॰, पृ॰ 32

तत्त्व[144] माया होने से, तथा शेष नीचे के समस्त तत्त्वों पर इसी (माया) का नियन्त्रण होने से– यह दशा को मायाध्वा भी कहते हैं।

6. **माया तत्त्व :–** माया परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति है, जो भेद का अनुभव अवभासित करने से मायाशक्ति कहलाती है।[145] यह एक प्रकार का अवरोधक बल है।[146] माया का मुख्य कार्य ज्ञाता और ज्ञेय के अबाधित परमार्थ स्वरूप की अनुभूति में संकोच करके उसे बाधित (सीमित) करना है अर्थात् पूर्ण स्वरूप को आवृत्त करके भेद बुद्धि उत्पन्न करना है, जिससे वह स्वत्व को भूलकर शरीरादि से तादात्म्य करने से सुप्त–सा (अणु) हो जाता है।[147] इसीलिये इसे विमोहिनी शक्ति कहा गया है[148] और भेदरूप सृष्टि के कारण इसे जड़ा कहते हैं[149], क्योंकि इसमें पदार्थ परिमित रूप में अवभासित होते हैं तथा अद्वैत शैव मत में परिच्छिन्नता को ही जड़ता माना गया है।[150] मायाशक्ति तो परमसत्ता की स्वाभाविक सामर्थ्य होती है, जिससे वह विविध रूपों में प्रकाशित होते हैं। वह प्रमाता में संकुचित जीव स्वरूप को उत्पन्न कर देती है। माया तत्त्व विश्व–निर्माणकारी अथवा परिमितिकारी तत्त्व होता है। माया का गन्थ्यात्मक रूप भी माना जाता है। इसकी तीन ग्रन्थियों से आणव, मायीय और कार्म मल उत्पन्न होते हैं, जिन्हें पाश भी कहते हैं। अतः माया का तत्त्व, शक्ति और ग्रन्थ्यात्मक–त्रिविधस्वरूप माना गया है।[151]

माया के स्तर पर शून्य प्रमाता अथवा प्रलय केवली होते हैं और उनके अनुरूप ही उनका प्रमेय होता है।[152] ये जड़ात्मक शून्य–प्राणादि में ही देहरूपता अतिक्रमण द्वारा "अहं" अनुभूत करते हैं। अतः दोनों प्रकार का आणव मल, कर्मों का संस्कार

---

144. "माया स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः।" –तं०आ०वि०, भा० 3, पृ० 283
145. "परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिः उच्यते।"
146. "तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः।" –ई०प्र०का०, 3/7
147. "सुप्तस्थानीयमणुम्" तं०सा०, आह० 8 एवं "भेदे त्वेकरसे भातेऽहन्तयानात्मनीक्षिते। शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते।।" –ई०प्र०का०, 3/8
148. "यदा भावा भेदेनेदन्तयैव भासन्तेऽहमिति प्रमातृत्वेन च देहादिः तदा विपर्ययद्वयहेतुर्माया-शक्तिर्विमोहिनी नाम विजृम्भा।" –ई०प्र०का०वृ०, पृ० 62 एवं वि०भै०का० 95
149. "सा जड़ा भेदरूपत्वात्।" –तं०आ०, भा० 6, 9-151
150. "प्रकाशपरिच्छिन्नत्वं जडस्य किल लक्षणम्।" –तं०आ०वि०, भा० 6, पृ० 227
151. "एवं मायायास्तत्त्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम्।" –स्वच्छ०तं०टी०, भा० 5, पृ० 481 एवं "पाशानामुत्पत्तिभूः"
152. "मायायां शून्यप्रमातृणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम्।" –प्र०हृ०, पृ० 50

होने से कार्म मल एवं वेद्य के योग अथवा अयोग से मायीय मल विकल्प से होता है।[153] माया से युक्त अणु (जीव) चित्त प्रधान होता है।[154] माया को परानिशा भी कहते हैं।[155] माया मोक्ष- इच्छुक जीवों को संसार में फंसाकर भ्रमाती है।[156]

(माया से क्रमश: कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों का विकास होता है, जिन्हें स्वरूप आवृत्त करने के स्वभाव के कारण आवरण अथवा कञ्चुक कहते हैं।) अकेले में पञ्च-कञ्चुक अथवा माया सहित षट्- कञ्चुक कहे जाते हैं। ये तत्त्व परिमित शक्तियाँ ही होते हैं, जिनसे युक्त हुआ प्रमाता भी परिमित स्वरूप हो जाता है- अत: ये जीव के बन्धन या पाश कहे जाते हैं।[157] माया के कारण "सर्वमिदं" अनुभव में निम्नलिखित सीमितता का परिवर्तन हो जाता है।[158]

7. **कला तत्त्व :–** परमेश्वर का परमार्थ स्वरूप गुप्त होने पर एवं अणु बनने पर- जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किञ्चित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसे कला तत्त्व कहते हैं।[159] कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है।[160]

8. **विद्या तत्त्व :–** परमेश्वर का जिसके द्वारा सर्वज्ञत्व परिच्छिन्न होकर किञ्चिज्ज्ञत्व में परिवर्तित हो जाता है- वह विद्या तत्त्व कहा जाता है।[161] संकुचित ज्ञानरूपा विद्या अशुद्ध विद्या भी कहलाती है। पुरुषों में विवेकशक्ति रूप में स्थित जड़ बुद्धि से पृथक् एवं उसमें प्रतिबिम्बित विषयों की अनुभूति[162] कराती है।

---

153. "शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तार: प्रलयाकला:। तेषां कार्ममलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पित:।।" --ई०प्र०का०, 3/19
154. "चित्तमेव तु मायाप्रमातु: स्वरूपं - तन्मयो मायाप्रमाता।" -प्र०हृ०सू० 6, पृ० 56
155. "आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान्। गर्भीकृतानन्तभाविविभासा सा परा निशा।।" --तं०आ०, भा० 6, 9/150, 151
156. "भ्रमत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।" -स्वच्छ०तं०, 10:1141
157. "कलाविद्यारागकालनियतिर्बन्ध उच्यते।" --अनु०प्र०पं०, श्लो० 16
158. "तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्त्य: संकोचं गृह्णाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति।" -प्र०हृ०, पृ० 66
159. "तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा। किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम।।" -षट्०त्रिं०त०सं०, श्लो० 8
160. "वेद्यमात्रं स्फुटम् भिन्नं प्रधानं सूयते कला।" -तं०आ०, आह० 9, पृ० 177
161. "सर्वज्ञा तस्य शक्ति: परिमिततनुरल्प वेद्यमात्रपरा। ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यै:।।" -षट्०त्रिं०त०सं०, श्लो० 9
162. द्रष्टव्य० ई० प्र० वि०, भा० 2, पृ० 208; एवं - षट्० त्रिं० त० सं०, पृ० 7

9. **राग तत्त्व :–** जिसके प्रभाव से पूर्णतृप्ति (पूर्णत्व) परिमित हो जाती है और वह सीमित भोगों में आसक्त हो जाता है– राग तत्त्व अभिहित होता है। यह बुद्धि के धर्म "स्थूल राग" (अवैराग्य) से सूक्ष्मतर[163] है। मितात्मा के देहादि प्रमातृभाव और प्रमेय में गुणारोपणमय आसक्ति को राग कहा जाता है।[164] यह पुरुष को भेदगत भोगों में अनुरञ्जित करता है।[165]

10. **काल तत्त्व :–** परमेश्वर के नित्य स्वरूप का संकुचित होकर भूत, वर्तमान और भविष्यत् में परिच्छिन्न हो जाना– काल तत्त्व कहलाता है।[166] इसके कारण ही अक्रम स्वरूप में क्रमता का अवभास होता है।[167] यह पौर्वापर्य का क्रम ही काल[168] और इसकी प्रकाशिका कालशक्ति अभिहित होती है।[169]

11. **नियति तत्त्व :–** परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिये विशिष्ट कारण का नियम धारण करना एवं व्यापकत्व का परिमित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाना– नियति तत्त्व कहलाता है। यह नियामिका है और इसके नियमों के अनुसार ही पुरुष में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है।[170] यह राग पुनः विद्या एवं कला का नियामक[171] है।

इस प्रकार माया और उसके पाञ्च कञ्चुकों द्वारा जिस भाँति प्रमाता सीमित हो जाता है, उसी के अनुरूप प्रमेय भी संकुचित हो जाता है। यह परिवर्तन माया द्वारा कल्पित एवं अणु द्वारा परिगृहीत होता है, परन्तु इससे उसकी सर्वथा अपरिवर्तनशील चैतन्यता में अन्तर नहीं आता।[172]

---

163. ई॰ प्र॰ वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 209
164. तदेव
165. "रागोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि।" –मा॰वि॰तं॰, 1-18
166. द्रष्टव्य॰ - प्र॰हृ॰, पृ॰ 66
167. ई॰प्र॰वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 208
168. "क्रम एव कालो।" –ई॰प्र॰वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 9 एवं "क्रम एव स (कालः) तत्त्वतः।" –ई॰प्र॰का॰, 2/3
169. "सेयम् इत्थंभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवतः कालशक्तिः इत्युच्यते।" –ई॰प्र॰वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 13
170. "नियतिः ममेदं कर्त्तव्यं इतिनियमनहेतुः।" –परा प्रा॰, पृ॰ 9
171. ई॰ प्र॰ वि॰, भा॰ 2, पृ॰ 209
172. "माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् स पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद् रागविद्यावशेन संबद्धः।।" –प॰सा॰, श्लो॰ 17

12. **पुरुष तत्त्व :–** माया एवं उसके पाञ्च कञ्चुकों से आबद्ध चिदात्मा पुरुष, अणु, जीव, पुमान्, पशु, मितात्मा, पुद्गल आदि विविध नामों से अभिहित होता है।[173] वास्तव में ऐसा केवल दिखाई-सा देता है तथा इस आभास के कारण ही वह पूर्णत्व से अणुत्व को प्राप्त-सा करता है, यथार्थ में तो वह परमशिव ही होता है।[174] इस आभास के कारण ही माया द्वारा संकोच, परिमितत्व, भिन्नत्व एवं गुणत्व प्राप्त करके अपने जैसे अणुरूप और अनन्त पुरुषों को उत्पन्न करता है, जो स्वतन्त्र अस्तित्व से युक्त हुये जीवाणु (Ameva) की भाँति स्वभाव से अप्रभावित रहते हैं।[175] अपने परमार्थ स्वरूप के ऐश्वर्य से अनभिज्ञ रहने पर्यन्त विविध योनियों में संचरण करता हुआ अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगता रहता है[176], परन्तु आत्म-प्रत्यभिज्ञा से मुक्त हो जाता है।[177]

ये पुरुष आणव, मायीय और कार्म– तीनों मलों से युक्त होने पर भी संसार-बीज कार्म मल के प्राधान्य वाले होते हैं तथा "सकल" प्रमाता कहलाते हैं।[178] पृथिवी पर्यन्त इनकी अवस्थिति मानी गई है। ये परस्पर सर्वतः भिन्न एवं परिमित दृष्टिकोण वाले होते हैं तथा इनका प्रमेय भी वैसा ही होता है।[179] अतः देव, दानव, मानव एवं तिर्यक् आदि कारण-सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीरों को धारण करने वाले एवं सभी भुवनों में रहने वाले सभी प्राणी "सकल" प्रमाताओं के ही अन्तर्गत आते हैं, जिनका अधिष्ठाता अनन्त भट्टारक ही होता है।

13. **प्रकृति तत्त्व :–** शुद्ध विद्या की सार्वभौम दशा का परिच्छिन्न अनुभव ही पुरुष एवं प्रकृति होता है। ये दोनों तत्त्व एक साथ ही अवभासित होते हैं।[180]

---

173. "मायागृहीतसंकोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते।" –अनु॰प्र॰पं॰, श्लो॰ 32 एवं
"इदमेव च पञ्चविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम्।" –तं॰आ॰वि॰, भा॰ 6, पृ॰ 165
174. "सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव।" –प्र॰हृ॰, पृ॰ 53
175. "मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलभावेषु। नित्यं तस्य निरंकुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे।।"
–त॰सन्॰, 5
176. "परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः सञ्चरति विचित्रयोनिषु।"
–षट्॰त्रिं॰त॰सं॰वि॰, पृ॰ 5
177. "स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।" –प॰सा॰, का॰ 60
178. "देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्। तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।"
–ई॰प्र॰का॰, 3/21
179. "क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलानां सर्वतो भिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम्।"
–प्र॰हृ॰, पृ॰ 50
180. "सममेव हि भोग्यं भोक्तारं च प्रसूयते।" –तं॰आ॰, भा॰ 6, 9/285

प्रकृति को कला का वेद्यरूप कार्य कहा जाता है।[181] यह सुख-दुःख एवं मोहात्मक की सृष्टि करने वाले सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है।[182] वास्तव में परमसत्ता की ज्ञान, क्रिया और माया शक्तियाँ ही भेदभूमि (संसारी दशा) में सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों में संकुचित हो जाती हैं।[183] प्रकृति की साम्यावस्था (अक्षुब्धदशा) में परिणाम आये बिना अन्तःकरणादि तत्त्वों की सृष्टि नहीं हो सकती है। अतः प्रकृति के अन्तःवर्ती एक प्रक्षुब्ध दशा की सत्ता को "गुणतत्त्व" संज्ञित किया गया है, जिसे पृथक् तत्त्व नहीं माना जाता।[184] स्वतन्त्रेश (तत्त्वेश) अनन्त जीवात्माओं को उनके कर्मानुसार फल दिलाने के लिये प्रकृति को क्षुब्ध कर देता है, जिससे तीनों गुण क्षुब्ध होकर जगत्कार्य का विस्तार करते हैं।[185] प्रत्येक पुरुष के लिये भिन्न-भिन्न होने से प्रकृति असंख्य मानी गई है।[186] शून्यादि प्रमाता के अपने से व्यतिरिक्त वेद्यमात्र रूप वाले प्रकृतितत्त्व से कार्य और करण भाव से तेईस (23) प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है।[187]

14. **बुद्धि तत्त्व :–** जब पुरुष प्रकृति में अपनी प्रथम चेतना का अनुभव करता है, तो ऐसा अनुभव बुद्धि तत्त्व कहलाता है, जिसे सत्तामात्र की प्रतीति होती है।[188] यह प्रकृति के सत्त्व गुण का विकास होता है और इसमें शान्त, आह्लादात्मक प्रकाश होता है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है।[189] संस्कारों से उत्पन्न कल्पनाओं का अन्तः और इन्द्रियों से ग्राह्य बाह्य– दो प्रकार का अनुभव रखती है।

---

181. "वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं (प्रकृतिं) सूयते कला।" –तं०आ०, आह० 9/214
182. "तावदेष एव सुख-दुःख-मोहात्मक-भोग्यविशेषानुस्यूतस्य सामान्यमात्रस्य तद्गुण-सामान्यापरनाम्नः प्रकृतितत्त्वस्य सर्गः।" –तं०सा०, पृ० 83
183. "स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।" –ई०प्र०का०, 4/4
184. "तदेव (प्रकृतितत्त्वम्) तु भोग्यसामान्यम् प्रक्षोभगतं गुणतत्त्वम्।" –तं०सा०, आह० 8
185. "ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति। भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेत् भृशम्।" –तं०आ०, 9/225; तं०सा०, आह० 8
186. "तच्च (प्रकृतिः) भिन्नं प्रतिपुंनियतत्वादनेकमिति।" –तं०आ०वि०, भा० 6, पृ० 171, 172
187. "त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम्। तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्।।" –ई०प्र०का०, 3/10
188. "सत्तामात्रे महति आत्मनि।" –यो०भा०, 2-19, पृ० 76
189. "ज्ञानमपि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः।" –त०सन्०, 15

15. **अहंकार तत्त्व :—** बुद्धि तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। इसके द्वारा अहं-प्रतीति होती है एवं यह सभी प्रमेयों से तादात्म्य स्थापित करता है, जिससे वे अपने माने जाते हैं।[190] भगवती पराशक्ति की इच्छा शक्ति से प्रभावित प्रकृति का रजस् गुण ही इसमें प्रबल होता है।[191] इसमें प्रथम क्रिया का अनुभव-सा होता है और वह दुःखात्मक होती है।[192]

16. **मन तत्त्व :—** अहंकार से मन उत्पन्न होता है। यह क्रिया प्रधान, संकल्प-विकल्पशील, तमो गुण रूप होता है।[193] यह इन्द्रियों को ठोस चित्र बनाकर देता है। यह इच्छाओं का घर और उभयेन्द्रिय है।[194]

बुद्धि, अहंकार और मन— अपने-अपने अस्तित्व में रहकर सतत कार्य करते रहते हैं और इन तीनों का समूह अन्तःकरण अभिहित होता है। अहंकार से मन के साथ-साथ पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पाञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा पाञ्च तन्मात्रायें भी अभिव्यक्त होती हैं।

17 तः 21. **ज्ञानेन्द्रियाँ (बुद्धीन्द्रियाँ) :—** जब मन में विषयों के ज्ञान करने की इच्छा होती है, तो उनकी ग्राहक इन्द्रियों की उत्पत्ति हो जाती है, जिन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा बुद्धीन्द्रियाँ सम्बोधित किया जाता है। ये क्रमशः श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय हैं, जिनसे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण होता है।

22 तः 26. **कर्मेन्द्रियाँ :—** वस्तु ग्रहण के पश्चात् उसके विसर्जनादि की प्रक्रिया होनी आवश्यक है। अतः इसकी अपेक्षा से तत्-तत् इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है, जिन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहा जाता है। ये क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन्द्रियाँ होती हैं जिनसे क्रमशः बोलना, ग्रहण करना, चलना, विसर्जन एवं जनन अथवा आनन्दोत्पादन की क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

27 तः 31. **तन्मात्रायें :—** इन इन्द्रियों से सम्बन्धित प्रमेय "तन्मात्रा" कहलाता है, जिससे अभिप्राय है— उतना ही। ये सामान्य (सूक्ष्म) गुणों से युक्त होती हैं। यह क्रमशः शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा कहलाती है। इनमें भेदक गुण नहीं होते हैं।

---

190. "ग्राह्य-ग्राहकाभिमानरूपोऽहंकारः।" —ई०प्र०वि०, 3/1/11
191. "इच्छास्य रजोरूपाहंकृतिरासीदहंप्रतीतिकरी।" —त०सन्०, 14
192. "दुःख रजः क्रियात्मत्वात् क्रिया हि तदनत्क्रमः।" —त०आ०, आह० 9/222
193. "तस्य क्रिया तमोमयमूर्त्तिमन उच्यते विकल्पकारी।" —त०सन्०, 15
194. "उभयात्मकं मनः।" —सां०द०, 2-26, 27

32 त: 36. **स्थूलभूत** :— अपनी - अपनी विभिन्नताओं से तन्मात्रायें अपने परिणाम रूप में विशेष (स्थूल) प्रमेयों में अभिव्यक्त हो जाती हैं, जिन्हें स्थूलभूत कहा जाता है। अत: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्राओं से क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी स्थूलभूत विकसित होते हैं, जिनके गुण क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं।

तत्त्वों का पञ्चकलात्मक वर्गीकरण

कलायें शक्ति की विशेष विधायें (specific modes) होती हैं। ये प्रमेयरूप जगत् का सूक्ष्मतम रूप होता है। अत: तत्त्वों के सूक्ष्म रूप कला कहे जाते हैं और स्थूलरूप भुवन। पाञ्च कलायें— निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति एवं शान्त्यातीता— मानी जाती हैं। पृथिवी तत्त्व को व्याप्त करने वाली कला "निवृत्ति कला" अभिहित होती है, क्योंकि इस स्थिति तक पहुँचते ही परमशिव की तत्त्व सृष्टि-प्रक्रिया निवृत्त हो जाती है अर्थात् इसके पश्चात् किसी नवीन तत्त्व की रचना[195] नहीं होती है। यह पृथिवी तत्त्व में क्रियाशीलता हेतु आवश्यक बल है। इसमें सोलह (16) भुवन होते हैं। जल तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व पर्यन्त प्रपञ्च को व्याप्त करने वाली को "प्रतिष्ठा कला" कहा जाता है, जिस पर समस्त स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि प्रतिष्ठित रहती है।[196] इसमें छप्पन (56) भुवन होते हैं। पुरुष तत्त्व से माया तत्त्व पर्यन्त व्यापक भाव से विद्यमान रहने वाली "विद्या कला" कहलाती है। इसमें वेद्य का तिरोभाव तथा वेदक की प्रमुखता रहती है। इस कलान्तर्वर्ती तत्त्वों का विशेष सम्बन्ध पुरुष से ही होता है।[197] इसमें अठाईस (28) भुवन होते हैं। "शान्ता" अथवा "शान्ति कला" शुद्धविद्या से लेकर सदाशिव (कुछ विद्वानों अनुसार शक्ति) तत्त्व पर्यन्त व्याप्त रहने वाली होती है। इसमें माया अपने कञ्चुकों सहित उपशम हो जाती है। इस कला से भी ऊर्ध्ववर्ती शिव (अथवा शिव एवं शक्ति) तत्त्वान्तर्वर्ती "शान्त्यतीता कला[198]" होती है। शान्ता कला में अठारह (18) भुवनों की स्थिति मानी गई है। शान्त्यतीता में कोई भुवन नहीं होता।

---

195. "पृथिव्यां निवृत्ति:। निवर्तते यतस्तत्त्वसर्ग:।।" —तं०सा०, पृ० 109
196. "जलादिप्रधानान्ते वर्गे प्रतिष्ठा। कारणतयाप्यायनपूरणकारित्वात्।।" —तदेव
197. "पुमादिमायान्ते विद्या। वेद्यतिरोभावे संविदाधिक्यात्।।" —तदेव
198. "शुद्धविद्यादिशक्त्यन्ते शान्ता। कञ्चुकतरंगोपशमात्। ... शिवतत्त्वे शान्त्यतीता।।" —तदेव, पृ० 110

तत्त्वों का अण्डचतुष्टयात्मक वर्गीकरण

तत्त्वों के इस प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत शान्ता, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति कलायें ही क्रमशः शाक्त, मायीय, प्राकृत और पार्थिव अण्ड कहलाती है।[199] शान्त्यतीता कला अण्डचतुष्टय की कल्पना से सर्वथातीत है।

इस प्रकार एक ही परमसत्ता पारमार्थिक सद्वस्तु है और समस्त प्रमाता-प्रमाण और प्रमेय रूप विश्व उसके स्वातन्त्र्य-विलास से ज्ञाताभिन्न होते हुये भी ज्ञेय रूप में अवस्थित है[200], क्योंकि वेदक के बिना वेद्य की स्थिति असम्भव है।[201] अतः इस दर्शन में परमसत्ता के साथ-साथ विश्व की सत्यता को भी स्वीकार किया गया है।[202]

बन्धन एवं उसका कारण

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान न होना ही बन्धन माना गया है। वास्तव में परमात्मा (शिव, आत्मा) सर्वथा परिपूर्ण, शुद्ध, असीमित, असंकुचित एवं स्वतन्त्र संवित् रूप ही होता है। अपनी स्वातन्त्र्य महिमा से ही सब कुछ ज़ानने एवं करने में समर्थ होता है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के अबाधित सामर्थ्य से युक्त होने के कारण महेश्वर कहलाता है। अपनी परमाद्वैत अवस्था में अपनी पूर्ण प्रकाशनता और स्वरूप विमर्शनता से सम्पन्न होने के कारण शुद्ध ज्ञातृत्त्व एवं कर्तृत्त्व समन्वित परमेश्वर अभिहित होता है। परन्तु अपने स्वातन्त्र्य-विलास से जब अपने पारमार्थिक स्वरूप एवं विमर्श में संकोच का अभिनय-सा प्रारम्भ करता है अर्थात् एक से दो (अहं और इदं) का चित्रण करता है- जिसमें दो समझते हुये भी एकता का ज्ञान रहता है-- तब उसकी ज्ञान और क्रिया शुद्धाशुद्ध (यथा ईश्वरादि) कहलाती है। जब अनेकता अर्थात् अहं से इदं (विश्व) को पूर्णतया पृथक् अनुभव करता है, तो ये ज्ञान और क्रिया अशुद्ध कहलाती है (यथा पुरुषादि)। ये पूर्ण शुद्ध ज्ञान-क्रियादि शक्तियों का शुद्धाशुद्ध

---

199. "एतदेवाण्डचतुष्टयम् - पार्थिव-प्राकृत-मायीय-शाक्ताभिधानम्।।" --तदेव
200. "इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं यत् स्वस्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति।"
 --तं०आ०वि०, भा० 1, पृ० 209
201. (क) "यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये। वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः।।"
 -श्रीमदुच्छुष्मभैरवे - शि०सू०, पृ० 13
 (ख) "भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।" -स्प०का०, 2/3
202. "स्वप्रकाश संविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरति।" -तं०आ०वि०, भा० 1, पृ० 103

अथवा निकृष्ट अशुद्धता को धारण कर लेना ही संकोच अभिहित होता है।[203] इसी प्रकार परमेश्वर से अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा अवभासित स्वरूप-गोपनारूपा महामाया शक्ति के माध्यम से अपनी असीमितात्मा का अनाश्रितशिव प्रभृति मायाप्रमात्रन्त अवभासित करना संकोच कहलाता है। यही शिवाभेद-अख्याति रूप अज्ञान अथवा संकुचित ज्ञान बन्धन कहा जाता है।[204] यह पूर्ण स्वरूप का अज्ञान ही "मल" भी कहा जाता है, जो संसारीभाव का कारण है। इसी अज्ञान के कारण प्राणियों का बन्धन माना जाता है और उनकी सृष्टि, स्थिति एवं संहृति होती है।[205] प्रत्यभिज्ञादर्शन[206] में इस अज्ञान को ज्ञान का अभाव रूप नहीं माना गया है[207], प्रत्युत् ज्ञान के परिच्छिन्न (संकुचित) रूप को ही मल, जड़ता अथवा अज्ञान कहा गया है।[208] स्वात्मा के स्वरूप एवं शक्तियों के संकोच में त्रिविध मलों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है, जिन्हें आणव, मायीय और कार्म मल कहा जाता है :-

आणव मल : अनात्म वस्तु को ही आत्म-स्वरूप समझना अर्थात् अपनी यह प्रकाशरूपता को भूलकर शून्य, प्राण, बुद्धि अथवा शरीरादि में ही अहन्ताभाव मान लेना एवं ऐसे जड़ भावों में ही अपने कर्तृत्व को सीमित कर देना- "आणव मल" अभिहित होता है।[209] जब परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेदव्याप्ति निमज्जित करके भेदव्याप्ति का अवलम्बन करता है, तब वास्तव में अप्रतिहतरूपा इच्छाशक्ति

---

203. "स परमात्मा चिद्रूपो विमर्शाख्येनैव मुख्यस्वभावेनाव्यभिचारिणा महेश्वरश्चित्तत्त्वस्य विश्वात्मनः शिवसंज्ञस्याहविमर्शनमेव शुद्धे ज्ञानक्रिये, भिन्नाभिन्नकार्यगते त्वीश्वरस्य शुद्धाशुद्धे, भिन्नार्थ-विषयत्वे पुनः सत्त्वरजोवृत्तिरूपे प्रकाशप्रवृत्तिसंज्ञे तमसा संकुचिते अशुद्धे एव।"
-ई०प्र०का०वृ०, पृ० 36
204. "यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्यशक्त्याभासितस्वरूप-गोपनारूपया महामायाशक्त्या स्वात्मन्या-काशकल्पेऽनाश्रितात्प्रभृति मायाप्रमात्रन्तं संकोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्यात्म-काज्ञानस्वभावो ...... संकुचितज्ञानात्मा बन्धः।" -शि०सू०वि०, पृ० 16
205. "मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्।" -मा०वि० एवं "अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः।" -सर्वाचार- शि०सू०वि०, पृ० 16
206. "प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्धयति।" -ई०प्र०का०, 1/34
207. "अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसंगतः। स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः।। अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्। ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्।।
-तं०आ०, 1/25, 26
208. "परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्। जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते।।"
-बो०पं०, 8
209. "शिवाभेदाख्यात्यात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलः।" -शि०सू०वि०, पृ० 16
210. "तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णंमन्यतारूपम् आणवं मलम्।" -प्र०हृ०, पृ० 65, 66

संकुचित होने पर आणव मल बन जाती है[210], जिससे जीव अपने पूर्ण स्वरूप को भूलकर अपूर्ण (अणु, संकुचित) को ही अपनी आत्मा मान लेता है। इसके दो प्रकार कहे जाते हैं। एक में तो चिदात्मा (प्रकाशरूपता) के होने पर भी अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति का विज्ञानाकलों की भाँति ज्ञान न होने से अपूर्णता प्रतीत होती है। दूसरे में कर्तृता होने पर भी चिद्रूपता की अनुभूति न होने से अपूर्णता रहती है। इन दोनों प्रकारों से स्वरूप का ही संकोच होता है।[211]

मायीय मल : अपने से सर्वथा अभिन्न परमेश्वर एवं अन्य जागतिक पदार्थों को भिन्न समझना अर्थात् संकुचित भेद दृष्टि का अपनाना "मायीय मल" कहा जाता है।[212] ज्ञान शक्ति ही क्रम से संकोच के कारण भेद दशा में सर्वज्ञत्व से किञ्चिज्ज्ञत्व को प्राप्त होकर अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियों के रूप में अत्यन्त संकुचित होकर भिन्न वेद्यप्रथा रूप मायीय मल बन जाती है।[213]

कार्म मल : अपने को अपूर्ण एवं दूसरों से सर्वथा पृथक् समझने के कारण वह अपने पूर्ण कर्तृत्व को भूलकर संकुचित शरीरादि की क्रियाओं में अपना अभिमान करने लगता है। इस सीमित शुभाशुभ कर्तृत्व एवं इसके संस्कारों से जकड़ित हुआ शुभाशुभ योनियों में सञ्चरण करता रहता है। अतः यह शुभाशुभ वासनात्मक ज्ञान ही "कार्म मल" कहलाता है।[214] भेद दशा में परमेश्वर की क्रियाशक्ति ही सर्वकर्तृत्व से अल्पकर्तृत्व को प्राप्त होकर कर्मेन्द्रियों के रूप में अत्यन्त परिमितता को प्राप्त हुई शुभाशुभ अनुष्ठानमय कार्म मल बन जाती है।[215]

ये तीनों ही मल परमेश्वर की स्वेच्छा से माया शक्ति द्वारा अवकल्पित होते हैं।[216] अतः इस प्रकार माया एवं उसके पाञ्च कञ्चुकों द्वारा आवेष्टित होकर चित्-आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया अथवा सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियों का संकोच ग्रहण करके कला, विद्या,

---

211. "स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता। द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।।" –ई०प्र०का०, 3/15
212. "भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं।" –ई०प्र०का०, 3/16
213. "ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञावाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्।" –प्र०हृ०, पृ० 66, शि०सू०वि०, 1/4
214. "क्रियाशक्ति' क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप – संकोचग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्।" –तदेव
215. "जन्मभोगदम्। कर्तर्यबोधे कार्मं तु।" –तदेव
216. "तन्मलत्रयनिर्माणे प्रभोरिच्छा मायाशक्तिरुच्यते।" –ई०प्र०का०वृ०, पृ० 65

राग, काल और नियति आदि रूपों को धारण करना ही शिव का पशुभाव (बन्धन) कहलाता है।[1] इस प्रकार शुद्ध चिद्रूप और उसकी शक्तियों में संकोच आने से मलयुक्त हुआ वह संसारी हो जाता है।[217] चिति भगवती अपनी सार्वभौम चैतन्यता की अनुभूति को सीमित अनुभूति वाले चित्त (अन्तःकरण) रूप में अभिव्यक्त कर देती है[218], जिससे असीमित ज्ञान, क्रिया और माया शक्तियाँ सीमित सत्त्व, रजस् और तमस् गुण बन जाती हैं।[219] सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्चकृत्यों की अनभिज्ञता से प्रमाता अपनी ही शक्तियों द्वारा विमोहित हुआ बन्धन में फंस जाता है,[220] परन्तु उनके परिज्ञान में चित्त अन्तर्मुखीभाव से युक्त हुआ सार्वभौम चैतन्यारूढ़ होने से चिति बन जाता है।[221]

क्षेमराज कहते हैं कि चिति शक्ति वामेश्वरी ही खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी रूपों द्वारा अशेष प्रमातृ-अन्तःकरण-बहिष्करण-भाव स्वभावों के रूप में परिस्फुरित होती है। संसारी दशापन्न करने के लिये इनमें भेददृष्टि और पतिदशा समन्वित करने के लिये अभेददृष्टि उत्पन्न कर देती है।[222] अथवा चिदात्मा परमेश्वर की स्वानपायिनी, अद्वितीय, स्फुरत्तासार, कर्तृतात्मा, ऐश्वर्यशक्ति का स्वरूप को छुपाकर पशु दशा में प्राण-अपान-समान शक्तिदशाओं, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति भूमियो, देह-प्राण-पुर्यष्टक कलाओं द्वारा विमोहित करना बन्धन कहलाता है। परन्तु वही जब मध्यधाम उल्लासरूपा उदानशक्ति एवं विश्व-व्याप्तिसार व्यान शक्ति के रूप में तुर्यदशा और चिदानन्दघन तुर्यातीत दशा को उन्मीलित करती है, तो देहादि में अवस्थित प्राणी भी पतिदशा (जीवन्मुक्ति) का अनुभव करता है।[223] इसी प्रकार चित्प्रकाश से अव्यतिरिक्त, नित्योदित, महामन्त्ररूपा, पूर्णाहंविमर्शमयी, आदि क्षान्तरूप समस्त शक्तिसमूह की गर्भिणी परावाक् शक्ति होती है, जो पश्यन्ती,

---

217. "चिद्वत् तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी।" -प्र०हृ०, सू० 9
218. "चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्।" -तदेव, सू० 5
219. "स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।।" --ई०प्र०का०, 4/4
220. "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्।" -प्र०हृ०, सू० 12
221. "तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।" --तदेव, सू० 13
222. "चितिशक्तिरेव भगवती ... वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-अन्तःकरण बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती, पशुभूमिकायां ..... पतिहृदयविकासिना स्फुरति ... उक्तं भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु -- "पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः। वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः।" -प्र०हृ०, पृ० 73, 74
223. "अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वाअनपायिनी एकैव स्फुरत्तासारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्ति। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापान-समानशक्तिदशाभिः ..... पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति।" --तदेव, पृ० 74, 75

मध्यमा और वैखरी रूपों में ग्राहकों में आभासित होती है। माया प्रमाताओं में शुद्धस्वरूप होती हुई भी परिच्छिन्न रूप एवं अनुभवों से आच्छादित-सी रहती है, जिससे ब्राह्मी आदि देवताओं द्वारा अधिष्ठित, ककारादि विचित्र शक्तियों द्वारा विमोहित मूढ़जन पराधीन हुआ परिमित प्राणादि को ही अपनी आत्मा मानने लगता है। ये ब्राह्मी आदि देवियाँ पशु दशा में भेद विषयक सृष्टि-स्थिति और अभेद सम्बन्धी संहृति करके प्रमाता को परिमित विकल्प का पात्र बना देती हैं, परन्तु पतिदशा में भेद का संहार और अभेद की सृष्टि-स्थिति प्रकट करके क्रमपूर्वक विकल्पनिर्ह्रास द्वारा परमसत्ता की अविकल्पभूमि उन्मीलित कर देती हैं।[224] अतः चित्प्रकाश का संकोच ग्रहण करना एवं अपनी शक्तियों द्वारा व्यामोहित होना ही बन्धन एवं उसका कारण हैं।[225]

यह बन्धन, संकोच अथवा अज्ञान भी – पौरुष एवं बौद्ध अज्ञान भेद से – दो प्रकार का माना गया है।[226] अपने पूर्ण शिवस्वरूप सम्बन्धी अज्ञान पौरुष एवं बुद्धिगत अज्ञान "बौद्ध" अज्ञान कहे जाते हैं। शास्त्रादि के ज्ञान से बौद्ध अज्ञान एवं दीक्षादि साधना अथवा गुरु-अनुग्रह (अथवा परमसत्ता के शक्तिपात) से पौरुष अज्ञान दूर हो जाता है। मुक्ति के लिये पौरुष अथवा दोनों (पौरुष एवं बौद्ध) ज्ञान ही अत्यावश्यक हैं।[227]

मोक्ष एवं उसका उपाय

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अपने परमार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान ही मोक्ष कहा गया है।[228] यह किसी अन्य लोक में गमन अथवा कोई धाम (पदवी) विशेष नहीं है, प्रत्युत् अपने यथार्थ, पूर्ण स्वरूप विषयक जो अज्ञान-ग्रन्थि पड़ जाती है – उसका छिन्न होकर पुनः अपनी अबाधित शक्तियों का अभिव्यक्त होना

---

224. "चित्प्रकाशत् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी .... परावाक्शक्तिः ...... अविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ति।" –तदेव, पृ० 71, 72

225. "चित्प्रकाशो गृहीतसंकोचः संसारी .... स्वशक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्वं भवति।" –तदेव, पृ० 75

226. "ज्ञानाज्ञानस्वरूपं यदुक्तं, प्रत्येकमप्यदः। द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने।।" –तं०आ०, 1/36

227. "नहि बौद्धाज्ञानमात्रनिवृत्तौ मोक्षो भवेत् यत्तस्मिन्निवृत्ते बौद्धमेव ज्ञानमुदेति। ... पौरुषे पुनरज्ञाने दीक्षादिना निवृत्ते सति ... पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्यनिरपेक्षमेव मोक्षकारणम्।।" –तं०आ०वि०, 1/24

228. "सम्यग्ज्ञानस्वभावा हि विद्या साक्षत् विमोचिका।" –तं०आ०, भा० 9, 15-9

मात्र है।[229] अतः अपने तात्त्विक स्वरूप के प्रथन को ही मोक्ष माना गया है।[230] यह अपने आत्मिक बल का स्पर्श है, जिससे पशु-भाव की निवृत्ति होकर शिवता की उपलब्धि होती है।[231] उपलब्धि से यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि कोई वस्तु पहले प्राप्त नहीं थी अथवा सर्वथा नवीन वस्तु की प्राप्ति होती है – प्रत्युत न तो कहीं जाकर अथवा न ही कुछ छोड़कर अपने ही नित्य सनातन आत्म-महेश्वर की अनुभूति करना है,)जो मायावश शरीरादि अनात्म पदार्थों में हो रही थी।[232] अपने पञ्चकृत्यकारित्व एवं शक्तियों के परिज्ञान में चित्त पुनः अन्तर्मुखीभाव से सार्वभौम चेतनपद को प्राप्त हुआ चिति भगवती हो जाता है[233] अर्थात् पशुभाव अपने असीमित सामर्थ्य को भूल जाना ही है और अपने माहेश्वर्य की अनुभूति करना पतिभाव (शिवत्व अभिव्यक्ति) है।[234] अतः जीव जब प्राणादि धारण किये रहने पर भी अपनी शक्तियों से व्यामोहित नहीं होता, तो आम्नायों की दृष्टि में वह "शरीरी परमेश्वर" कहलाता है।[235] प्रत्यभिज्ञाटीका में कहा गया है कि छत्तीस तत्त्वमय शरीर अथवा घटादि को भी जो शिवरूप में देखते हैं, वे भी सिद्धि को प्राप्त होते है।[236] जिस समय चिति देह, प्राणादि कोशों को दबाकर अपने उभार स्वरूप उन्मेष (बल) को प्राप्त होती है, तो ऐसी दशा को प्राप्त प्रमाता क्षित्यादि-सदाशिवान्त विश्व को आत्मसात् कर लेता है अर्थात् स्वस्वरूप से अभेदरूप में निर्भासित करता है।[237] ऐसी बात नहींहै कि यह विश्वात्मसात्काररूपा समावेश दशा कभी-कभी ही होती है – तब तो यह उपादेया ही नहीं होगी – "प्रत्युत् वास्तविकता यह है कि देहादि के आविर्भाव और तिरोभाव के कारण ही चिति की यह दशा कभी-कभी होने वाली (अस्थायी) जैसी लगती है। वस्तुतः तो यह चिति के स्वातन्त्र्य से अवभासित देहादि के आविर्भाव के ही कारण कादाचित्की है। यह सदा ही प्रकाशमानरूपा

229. "मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र। अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।।" –प०सा०, का० 60
230. "मोक्षो हि नाम नैवान्य स्वरूपप्रथनं हि तत्।" –तं०आ०, भा० 1, पृ० 192
231. "आत्मबलस्पर्शात् पुरुषो तत्समो भवेत्।" –स्प०का०, 3/8
232. "न क्वापि गत्वा हित्वापि न किञ्चिदिदमेव ये। भव्यं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः।।" –शि०स्तो०, 20/10
233. "तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः।" –प्र०हृ०, सू० 13
234. "तथाविधश्च अयं दरिद्रः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।" –तदेव, पृ० 66
235. "... शरीरी परमेश्वरः" एवं "मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः।" –तदेव, पृ० 75, 76
236. "शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति।" –तदेव, पृ० 76
237. "बललाभे विश्वमात्मसात्करोति।" –तदेव, सू० 15 एवं "चितिरेव देहप्राणाद्याच्छादननिमज्जनेन स्वरूपम् उन्मग्नत्वेन स्फारयन्ती बलम्।" –तदेव, पृ० 79

है, अन्यथा देहादि का भी प्रकाश न होता।[238] इसीलिये "अभ्यास (साधना, उपाय) देहादि के प्रमातृता अभिमान (मिथ्या तादात्म्य) को दूर करने के लिये होता है, न कि सदा प्रथमानतासार (प्रकाशमानतारूप) प्रमातृता (शिवता) की प्राप्ति के लिये होता है" ऐसा श्री प्रत्यभिज्ञाकार का मत है।[239] अतः सभी कुछ शिवमय होने से बन्ध और मोक्ष अपने आप में कुछ नहीं है। केवल द्वैत की प्रतीति ही बन्ध और अद्वैत की अनुभूति ही मोक्ष माना गया है।[240] वास्तव में अपने स्वातन्त्र्य के विलास से परमसत्ता स्वयं मुक्त, बद्ध, भोक्ता, ज्ञाता एवं अज्ञान-ज्ञान प्राप्ति आदि विविध रूपों का अभिनय करती है।[241]

उपाय : जप, तप, ध्यान, धारणा, पूजादि सभी आन्तर एवं बाह्य उपाय माया क्षेत्रवर्ती ही होते हैं और आत्मा से ही आभासित होने के कारण घट की भाँति शुद्ध प्रकाशरूप सूर्य-चैतन्य को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं।[242] परन्तु मलावरण का प्रक्षालण करने से शुद्ध संवित् के चमकने से व्यवहार में यही मुक्ति के उपाय अभिहित होते हैं। इन उपायों से समावेश[243] लाभ होकर शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठान हो जाता है।[244]

1. **अनुपाय :** इसमें साधक को कोई उपाय नहीं करना पड़ता है अथवा सीमित उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है। इसीलिये इसको सहजोपाय, आनन्दोपाय एवं

---

238. "न चैवं वक्तव्यम् – विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कादाचित्की। ... यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन इदम् अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति। ... एषा तु सदैव प्रकाशमाना; अन्यथा तत् देहादि अपि न प्रकाशेत्।" –प्र०हृ०, पृ० 80
239. "अत एव देहादिप्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः, न तु सदा प्रथमानतासारप्रमातृताप्राप्त्यर्थम्, इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकाराः।" –तदेव, पृ० 81
240. "बन्धमोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः" –शि०दृ०, 3/68 एवं "सर्वस्य शिवत्वे बन्ध-मोक्षाभावात् शिवोऽहमिति सर्वस्यैव किमिति ज्ञानं न भवति। ... यथा सैवेषा विमोहिता" एवं "अज्ञानलक्षणा च संसारो बन्ध उच्यते" इति स्थितावज्ञानरूपौ बन्धमोक्षौ।"
–शि०दृ०वृ०, पृ० 125, 126
241. (क) "स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुञ्चति। स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षयेत्।"
–तं०आ०, आह्० 13/83
(ख) "न सा जीवकला काचित्संतानद्वयवर्तिनी। व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते।" –स्प०का०वि०, पृ० 144
242. "उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।" –तं०आ०वि०, भा० 1, आह्० 2, पृ० 3 एवं तं०सा०, पृ० 9
243. "मुख्यत्वं कर्तृतायास्तु बोधस्य च चिदात्मनः। शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्।।"
–ई०प्र०का०, 3/23
244. "क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः।"
–क्रमसूत्रेषु – प्र०हृ०, पृ० 91

सर्वोत्कृष्ट होने से अनुत्तरोपाय भी कहते हैं। बिना किसी जप-तप आदि कठोर अभ्यास के सहज ही स्वरूप ज्ञान कराने का सबसे सरल उपाय यही है।[245] गुरु के कथनमात्र से निर्मलचित्त साधक – "मैं शुद्ध संवित् हूँ" – ऐसा परिपूर्ण शिवभाव का साक्षात्कार तत्क्षण ही कर लेता है। जैसे एक दीपक की ज्योति दूसरे में स्पर्शमात्र से संक्रान्त हो जाती है, इसी प्रकार किसी सिद्ध पुरुष आदि के कथन, स्पर्शन, दर्शन, चारु-भक्षण अथवा अनुग्रह करने की इच्छामात्र से एवं स्वयं शिव के शक्तिपात करने से शिवता की प्राप्ति हो जाती है, जिससे वह समस्त विश्व को अपना ही रूप समझता है।[246]

2. **शाम्भवोपाय :** इसमें चित्त को सर्वथा सभी मानसिक व्यापारों से शान्त कर, उसकी स्थिरता का अभ्यास किया जाता है।[247] चलती हुई वायु से रहित स्थान पर जलते हुये दीपक की प्रभा की भाँति स्थिर अवस्था में स्वतः अपने में ही ठहरे रहने का अभ्यास शाम्भवोपाय कहा जाता है।[248] विकल्प ही शिवस्वरूप के प्रत्यभिज्ञान में बाधक होता है, अतः निर्विकल्प प्रमाता की तीव्र इच्छा मात्र से स्पन्दरूपा इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। अभ्यास के दृढ़ हो जाने से बिना इच्छा से ही शिवभाव समावेश होने लगता है। इसे इच्छोपाय अथवा अभेदोपाय भी कहते हैं।[249] शाम्भवोपाय की पराकाष्ठा ही अनुपाय कहलाता है।[250] इसमें जब मन न तो किसी विकल्प को छोड़ता है और न ग्रहण ही करता है, इसकी क्रिया स्वतः शान्त हो जाती है और प्रमाता अपने पारमार्थिक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[251] मालिनी विजय में भी ऐसा ही कहा गया है।[252]

---

245. "न ध्यायतो न जपतःस्याद्यस्याविधिपूर्वकम्। एवमेव शिवाभासः तं नुमो भक्तिशालिनम्।।" –शि०स्तो०, 1/1

246. (क) "दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि वितताद्भवसागरात्। तारयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः।।" –शि०सू०वि०, पृ० 192

(ख) "स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्।" –तं०सा०, पृ० 9

247. "अविकल्पस्वरूपपरिशीलनात्मा शाम्भवावेशः।" –वि०भै०वि०, पृ० 19

248. "निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्। तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने।।" –वि०भै०, 108 एवं भ०गी० 6/19; अमन०यो० 1/40

249. "अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवम्।" –तं०आ०, आह० 1-230

250. "स एव परां काष्ठां प्राप्ताश्चानुपाय इत्युच्यते।" –तं०आ०वि०, भा० 1, आह० 2, पृ० 182

251. "मा किञ्चित् त्यज, या गृहाण, विरम स्वस्थो यथावस्थितः।" –अनु०अ०, 2

252. "अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः। जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः।।" –मा०वि०, 2/23

3. **शाक्तोपाय :** इस योग में ज्ञान एवं भावना की ही प्रधानता होती है, अत: इसे ज्ञानोपाय, भावनोपाय, भेदाभेदोपाय भी कहते हैं। शरीरादि के बन्धन में कारण अहन्ता-ममतादि अशुद्ध विकल्पों को त्यागकर – "मैं परमशिव ही हूँ", "सब कुछ मेरी ही अभिव्यक्ति है" – ऐसे शुद्ध एवं परिपूर्ण शिवभाव की भावना करना शाक्तोपाय कहलाता है।[253] इसमें साधक का चित्त ही आधार बनता है।[254] शुद्ध ज्ञान प्राप्ति में याग, होम, जप, व्रत और योग प्रसिद्ध है,[255] जिनके विकल्प ज्ञान के दर्पण में अपने संकल्पविकल्पात्मक रूप को पुन: पुन: भैरवभाव से देखते हुये शिवैक्य स्थापित हो जाने से मुक्त हो जाता है।[256] अभिनवगुप्त का कथन है कि अशुद्ध विकल्प के प्रभाव से ही जीव अपने को बद्ध मानते हैं और ऐसा अभिमान ही संसार के प्रतिबन्ध (आवागमन) का हेतु होता है। अत: प्रतिद्वन्द्विरूप शुद्ध विकल्प उदित होने से संसार हेतु अशुद्ध विकल्प नष्ट हो जाता है। शुद्ध विकल्प से वह अपने को समस्त भावों से उत्तीर्ण समझकर अपरिच्छिन्न-संविन्मात्र परमार्थ में अहन्ता करता हुआ विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता का अनुभव करता है। यद्यपि परसतत्त्व सर्वत्र सर्वरूपता से प्रकाशमय होने से विकल्प द्वारा खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। अत: शिवात्मा स्वस्वभाव में अभ्यास असम्भव है, तथापि शुद्ध विकल्प द्वैतभाव को नष्ट करता है, जो स्वरूप की अख्यातिमात्र होता है। अत: विकल्प द्वारा द्वैतापासन किया जाता है।[257] मन्त्र शक्ति, सत्तर्क और शुद्ध विद्या से भी ऐसा समावेश होता है।

4. **आणवोपाय :** शाम्भवोपाय में तो चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता, प्रत्युत चित्त-क्रिया शान्त हो जाती है। शाक्तोपाय में चित्त परतत्त्व के प्रत्यवमर्श में सहायक होता है, किसी वस्तु पर नियत नहीं किया जाता। परन्तु आणवोपाय में अणु (जीव सीमित प्रमाता) अपने अनुरूप ही बुद्धि, प्राण, शरीर अथवा बाह्य प्रमेयादि सीमित तत्त्वों को अपनी यौगिक क्रियाओं का आधार बनाता है। अत: इसमें चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना

---

253. "सर्वमहंभावभावनात्मकशुद्धविकल्पनावमर्शरूप: शाक्त:।" –वि०भै०वि०, पृ० 19 एवं तं०सा०, पृ० 21
254. "उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्। यं समावेशमाप्नोति शाक्त: सोऽत्राभिधीयते।।" –मा०वि०, 2/22
255. तं० सा०, पृ० 25
256. "तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि। आत्मानं भैरवं पश्यन् न चिरात्तन्मयी भवेत्।।" –तं०आ०, आह० 8/208, 209
257. "विकल्पबलात् एव जन्तवो बद्धम् आत्मानम्अभिमन्यन्ते ...... स्वरूपाख्यातिमात्रं तत्। अतो द्वैतापासनं विकल्पेन क्रियते।" –तं०सा०, पृ० 21 त: 24

के द्वारा उनको आत्मपरमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है।[258] यह कल्पनारूप क्रिया एवं ध्यानादि मानस क्रिया से साध्य है। इसीलिये इसे क्रियोपाय एवं भेदोपाय भी कहते हैं। अभ्यास दृढ़ होने पर स्वरूप पहचानकर शिवरूपता की प्राप्ति हो जाती है। मालिनी विजय में कहा गया है कि उच्चार (विशेष प्राण=प्राणापानादि), करण (देह पर की जाने वाली योगिक प्रक्रिया), ध्यान (लय या दाह भावना), वर्ण (सामान्य प्राण=अनाहत नाद) और स्थान प्रकल्पना (शरीर, प्राणवायु और बाह्य मूर्ति आदि) से प्राप्त होने वाला समावेश आणव कहा जाता है।[259]

इन मुख्य उपायों के अतिरिक्त अन्य भी उपायों को योग माना गया है, जिनसे शिव और जीव का एकत्व ज्ञान हो जाये; क्योंकि इस एकत्व को ही योग कहा जाता है।[260] पतञ्जलि तो चित्तवृत्ति निरोध को योग मानता है,[261] परन्तु इसमें बलात् ऐसा करना भयावह माना गया है।[262] इसीलिये विषयानन्द, आस्वाद (खान-पान के आस्वाद), शब्द (संगीत से प्राप्त), मनस्तुष्टि (जहाँ-कहीं मन को प्रसन्नता मिले) आदि की धारणा से भी परमानन्द लाभ होना अभिव्यक्त किया गया है।[263] क्षेमराज ने विकल्पक्षय, शक्तिसंकोच-विकास, बाहच्छेद, आद्यन्तकोटि निभालन आदि को भी स्वरूप लाभ में उपयुक्त बताया है।[264] स्पन्द शास्त्र में उन्मेष धारणा पर बल दिया गया है।[265] पराकाष्ठा को प्राप्त हुई भक्ति भी मोक्ष-प्राप्ति में

---

258. "यदा तूपायान्तरमसौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेहघटादिकान् परिमितरूपानुपायत्वेन गृहणन् अणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानमाविर्भावयति।" –तं०सा०, पृ० 35
259. "उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः। यो भवेत्तु समावेशः सम्यगाणव उच्यते।।" –मा०वि०, 2/21
260. "योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना।" –मा०वि०, 4/4 एवं "समत्वं योग उच्यते।" भ०गी०, 2/48
261. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" –यो०सू०, 1/2
262. (क) "स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धतो। तेषां तत् खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः।।" –मा०वि०वा०, 2/109, 110
(ख) "यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते। अवारितं मनस्तद्वत् स्वयमेव विलीयते।।" –अमन०यो०, 2/73
263. "शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम्। यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते।।
जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भनात्। भावयेद्भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत्।।
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः। योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता।।
यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्। तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते।।" –वि०भै०, 69 तः 74
264. विकल्पक्षयशक्तिसंकोचविकासबाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इह उपायाः।" –प्र०हृ०, सू० 18
265. "एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः। उन्मेषः सः तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्।।" –स्प०का०, 3/9

उपयुक्त बतलाई गई है।[266] प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में विकल्प-क्षय शिवता प्राप्ति का सहजोपाय माना गया है।[267]

शक्तिपात : शक्ति शिव का सामर्थ्य, क्रियात्मिक बल (Kinetic force) एवं स्वरूपसत्ता (Potential force) कही जाती है। इसीलिये वह शिव से अभिन्न मानी जाती है। शक्ति से ही शिवका माहेश्वर्य, स्वातन्त्र्य, पञ्चकृत्य होता है। अतः शक्तिपात का तात्पर्य है शक्ति का किसी पर गिरना अर्थात् शिव का अनुग्रह – सिद्ध गुरु अथवा स्वयं शिव द्वारा साधक के हृदय में आत्मिक बल का उन्मेष। इसी बल की प्राप्ति से जगदानन्द[268] एवं मन्त्रादि सिद्धियाँ स्वतः अभिव्यक्त हो जाती है,[269] जिससे साधक जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, मुक्तशिव, शिव, रुद्र अथवा भैरवता के स्तर पर पहुँच जाता है।[270] जितनी मात्रा में आत्म-बल का उन्मेष होगा, उतनी ही मात्रा में माहेश्वर्य की अनुभूति होती है। परमसत्ता का अनुग्रह आत्मप्रत्यभिज्ञान के लिये सभी उपायों का मूल स्रोत माना जाता है। वह जिसे ऊपर उठाना चाहते हैं, उससे शुभ कर्म करवाते हैं और जिसका पतन चाहते हैं, उससे अशुभ कार्य करवाते हैं।[271] उग्र स्वभाव वाला, ब्रह्मज्ञानी, ऋषि, विद्वान्, परम भक्त इत्यादि उनकी इच्छानुसार ही बनते हैं।[272] उनकी स्वतन्त्र इच्छा के अधीन ही सब कुछ है। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि परमसत्ता किसी प्राणी के प्रति वैषम्य और किसी के प्रति प्रेम रखते हैं ? वेदान्त भी जीवों के कर्मों के अनुसार ही जगत् सृष्टि मानता है। ब्रह्म तो लीलावश ही ऐसा करते हैं।[273] उनकी पराद्वैत दृष्टि में कोई भी प्राणी उनसे पृथक् नहीं, क्योंकि सब कुछ वही हैं। उनकी स्वतन्त्र इच्छानुसार

---

266. "भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षेऽभिधीयते।" –तं०आ०वि०, भा० 13, पृ० 137
267. "विकल्पहानेनैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्।" –ई०प्र०का०, 4/11
268. "बललाभे विश्वमात्मसात् करोति।" –प्र०हृ०, सू० 15
269. "तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः। प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्।।" –स्प०का०, 2/10
270. "आत्मबलस्पर्शात् पुरुषो तत्समो भवेत्।" –तदेव, 3/8
271. "एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषते।" –कौ०ब्रा०, 3/8
272. "यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। अहं जनाय समदं करोमि द्यावापृथिवी आविवेश।।" –ऋ०वे०, वा०सू०, 125, मं० 5
273. "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा।" –ब्र०सू०, 2/1/34 एवं "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।" –तदेव

ही सब प्राणी चलते हैं और यह इच्छा प्राणियों के अन्त:करण में अभिव्यक्त होती है। अत: परमसत्ता की यह दैवी अन्त:प्रेरणा ही "शक्तिपात" कही जाती है, जिससे आत्म-ज्ञान होता है। यह शक्तिपात सर्वथा निरपेक्ष कहा गया है।[274] उनके शक्तिपात के प्रभाव से ही प्राणी में स्वरूप-ज्ञान की जिज्ञासा, सत्गुरु-प्राप्ति, कुपथ-निवृत्ति, परा भक्ति प्राप्ति होती है।[275] राग-क्षय, कर्म-साम्य, पुण्य-कर्म, मल-पाक, भक्ति, सेवा, अभ्यास, वासनोद्भेद, कामनाक्षय, अविद्या नाश, निष्कामना, संस्कार-परिपाक, चित्तसाम्यता एवं सुहृद्-योग आदि अनेक शक्तिपात होने में कारण माने जाते हैं, परन्तु अभिनवगुप्त के मत में ये सभी कारण अन्याश्रित हैं, अत: कारणों का कारण परमसत्ता का अहेतुक शक्तिपात ही है। उसी प्रेरणा-स्त्रोत से सबल होकर प्राणी तत्-तत् कर्म करने में समर्थ होता है और अनिष्ट-हानि अथवा इष्ट-लाभ को प्राप्त करता है।[276] शक्तिपात में भी प्रकाश अथवा प्रतिभा का तारतम्य माना गया है। मुख्य रूप से इस शक्तिपात के तीन – तीव्र, मध्य और मन्द – रूप माने गये हैं।[277] पुन: तीव्र के तीव्र-तीव्र, मध्य-तीव्र, मन्द-तीव्र भेद कहे गये हैं। इसी प्रकार मध्य और मन्द के भी तीन-तीन प्रकार माने गये हैं। पुन: इन नव में से प्रत्येक की गति त्वरित, मध्यम और मन्द बतलाई गई है। इसी गतिभेद के कारण शक्तिपात को सत्ताईस प्रकार का कहा गया है।[278] इस विभाग में भी विविध एवं अनन्त प्रकार का वैचित्र्य होना ही सांसारिक लीला-वैचित्र्य का कारण माना जाता है। परन्तु शक्तिपात के इन अनन्त वैचित्र्यों की अभिव्यक्ति

---

274. (क) "न च वाच्यं कस्मात् कश्मिंश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति। स एव परमेश्वरस्तथा भातीति सतत्त्वे कोऽसौ पुमान् नाम यदुद्देशेन विषयकृता चोदनेयम्।"
–तं०सा०, पृ० 119

(ख) "स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिव: शक्ते: पातयिता, इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो य: स्वरूपप्रथाफल:।" –तदेव, पृ० 118

275. "शक्तिपातात् सद्गुरुविषया पिपासा भवति। असद्गुरुविषयायां तु तिरोभाव एव। असद्गुरु तस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव।" –तं०सा०, पृ० 122 एवं "तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।" –मा०वि०वा०, 1/698

276. "अनिमित्तस्तथा चायं शक्तिपातो महेशितु:।। तेनरागक्षयात् ...... उपपातत:।।"
–मा०वि०वा०, 1/688 त 692

277. "तारतम्यप्रकाशो यस्तीव्रमध्यममन्दता:। ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिता:।।"
–तं०आ०, आह० 13/86

278. "अनेन च अस्य तरतमभावेन त्रैविध्यसूचनादपि प्रत्येकं तथात्वे सप्तविंशतिर्भेदा: भवन्ति इति।" –तं०आ०वि०, 13/87

में परमसत्ता पूर्णतया निरपेक्ष और समर्थ होती है, क्योंकि निरपेक्षता ही स्वातन्त्र्य, कर्तृता एवं परमेश्वरता होती है।[279] यद्यपि यह परमा शक्ति सर्वव्यापिनी शिवा एवं नित्या है, परन्तु माया-मोहित प्राणी में संवृत (प्रसुप्त) रहती है। गुरु, परमसत्ता के अनुग्रहवश अथवा तत्प्रेरणा द्वारा स्वयं की साधना के प्रभाव से मल-दोष क्षीण होने पर सुव्यक्त हुई शक्ति (प्रतिभा) पतिता कहलाती है।[280] अत: परमसत्ता की कृपावश शक्ति उद्बोधन ही शक्तिपात कहलाता है।[281] अत: परमसत्ता का स्वातन्त्र्य ही सर्वत्र स्फुरित होता है।[282]

---

279. "इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी। निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता।।"
—मा०वि०वा०, 1/698
280. "व्यापिनी परमाशक्तिः ... सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता। ... पाशबद्धेषु संवृता। पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते।" —कु०महा०, पृ० 32
281. "ततः शक्त्युद्बोधनम्।" —तदेव
282. "तत्र सर्वत्रैव भगवती चितिशक्तिमयी प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति, तदस्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात्।"
—प्र०हृ०, पृ० 96

चतुर्थ अध्याय

सांख्य दर्शन – सामान्य परिचय

परिभाषा

सांख्य दर्शन के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक तर्कसंगत विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं। व्युत्पत्तिलभ्यार्थ के अनुसार सम् पूर्वक ख्या (प्रकथने) धातु से अङ् प्रत्यय और टाप् होकर "संख्या" पद बनता है, जिसका अभिप्राय है "गणना"। उसी "संख्या" शब्द से "तस्येदम्" से तद्धित अण् प्रत्यय होकर "सांख्य" पद व्युत्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक तात्पर्य होता है– गणना से ज्ञेय अथवा गणना विषयक। इस अर्थ को मानने वाले विद्वानों के मत में सार्थकता यह है कि सांख्य दर्शन में 25 अथवा 60 पर्यन्त तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण समीक्षा की गई है।[1] दूसरे विद्वानों अनुसार संख्या शब्द सम् पूर्वक चक्षिङ ख्याञ् (ख्याञ्) धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका "सम्यक् ख्यानम्" विग्रह है अर्थात् सम्यक् विचार।[2] तात्पर्य यह है कि पुरुष अज्ञान से आवृत्त रहता है। यही अज्ञान उसके बन्धन का मूल हेतु होता है, जिसके कारण उसे अपने पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। स्वरूप-अज्ञानता से ही

1. (क) "संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्यं प्रकीर्तितम्।।" –म०भा०, 12/306/43
   (ख) "सांख्यातधर्मैः सांख्यैश्च।" –चरक संहिता
   (ग) "एकत्वादय इति कृत्वा सांख्या भविष्यन्ति।" –महाभाष्य
   (घ) "सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।" –म०पु०
   (ङ) "प्रसंख्यानाय तत्त्वानां समन्तादात्मदर्शने।" –म०भा० 3/14/2
   (च) "संख्यात्मक पुरुषों का ज्ञान सांख्य कहलाता है" –सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार।" –पृ० 12 – हरिशंकर जोशी
2. "संख्या चर्चा विचारणा।" –अ०को०, 1/5/3; एवं "संख्यावान् पण्डितः कविः।" –तदेव

त्रिविध-तापों (दुःखों) से छुटकारा नहीं मिलता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुष से भिन्न है- ऐसा पुरुष का ज्ञान ही "संख्या" अभिहित होता है।[3] इसको ही "विवेक ख्याति", "सत्त्वपुरुषान्यताख्याति" और "प्रकृति-पुरुष-विवेक" कहा जाता है। महाभारत में "संख्या" के निर्वचन में कहा गया है कि इसमें किसी अर्थ तत्त्व को अभिप्रेत करके दोषों और गुणों का प्रमाणपूर्वक विश्लेषण किया जाता है।[4] निश्चय ही "संख्या" की यह परिभाषा भी प्रकृति-पुरुष-विवेक को ही इंगित करती है, जिससे इनके गुण-दोषों को देखकर यथार्थ ज्ञान-लाभ हो सकता है। पञ्चशिखाचार्य ने ख्याति अथवा सांख्य को एक अद्वितीय दर्शन --ज्ञान के अभिप्राय से ही- द्योतित किया है।[5] सर्वसिद्धान्त संग्रह में आचार्य शंकर कपिल द्वारा ज्ञान से ही मुक्ति का होना अभिव्यक्त करते हैं,[6] जिसका अभिधान सांख्य दर्शन करता है। व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के सम्यक् ज्ञान से ही सांख्यकारिका में निःश्रेयस् (कैवल्य) की प्राप्ति बतलाई गई है।[7] सांख्यकारिका की प्रस्तावना में जयमंगलाकार ने एक श्लोक उद्धृत करते हुये कहा है कि पच्चीस तत्त्वों का तत्त्वतः बोध हो जाने पर ही प्राणी मुक्ति-लाभ करता है, चाहे वह जटी (ब्रह्मचारी), मुण्डी (संन्यासी) और शिखी (गृहस्थ) कोई भी क्यों न हो। तात्पर्य यह है कि किसी भी आश्रम में स्थित हुआ ज्ञानी पुरुष मुक्त हो जाता है।[8] हरिभद्रसूरि षड्दर्शन समुच्चय की टीका में "संख्य" अथवा "संख" को पुरुष का द्योतक मानते हैं, अतः इसको मानने वालों को "सांख्य" अभिव्यक्त किया है।[9] व्यास स्मृति में "सांख्य" को अध्यात्म ज्ञान का परिचायक बतलाया गया है।[10] महाभारत में "परिसंख्या दर्शन" भी सांख्य

---

3. "इमे सत्त्वरजस्तमासि गुणा मया दृश्या। अहं तेभ्योऽन्यः। तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनम्। एष सांख्यः।" -शंकराचार्य - भ०गी०शां०भा०, 13/24
4. "दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः। कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्।।" -म०भा०
5. "एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।" -पञ्चशिखाचार्य-पा०यो०द०, सू० 1/4 भाष्ये उद्धृतम्
6. "ज्ञानेन मुक्तिः कपिलो योगेनाह पतञ्जलिः।" -स०सि०सं०, 3
7. "श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।" -सां०का०, 2
8. "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।।" -सां०का० जयमंगलाटीकायाम्
9. "संखमिति पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा, संखस्य इमे सांख्याः।" --हरिभद्रसूरि - षड्०द०सं० टीकायाम्
10. "शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।" -व्या०स्मृ०

दर्शन के पर्याय में प्रयुक्त किया गया है।[11] मीमांसा दर्शन अनुसार निषेध्य विषय का साधन के रूप में विधान परिसंख्यान कहलाता है। जैसे हिंसा सर्वत्र वर्जित होने पर भी वैदिकी (यज्ञादि में) हिंसा का विधान है, जो वास्तव में हिंसक प्रवृत्ति को कम करके अहिंसा की ओर अग्रसर करने के लिये ही है। इसी प्रकार सांख्य दर्शन का लक्ष्य तो "पुरुष ज्ञान" ही है, परन्तु मानव प्रवृत्ति की निसर्गता बहिर्मुखता (विषय लोलुपता) को भाँपकर इसके आचार्यों ने प्रकृति सहित इसके विकारों (बुद्धि प्रभृति पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों) का भी सूक्ष्मता से विवेचन किया है, जिससे पुरुष का वास्तविक स्वरूप जानना सहज ही सम्भव हो जाता है। अतः सम्भवतया सांख्य की परिसंख्यान संज्ञा इसी अभिप्राय की प्रतीक है। "अव्यक्त (प्रकृति) में समस्त जगत् समाहित है और पच्चीसवां तत्त्व पुरुष इससे निर्लेप है" -- ऐसा जान लेने पर आवागमनादि का भय नहीं रहता।[12] इस प्रकार आत्मा (पुरुष) के स्वरूप का ज्ञान होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।[13] अतः पच्चीस तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान से ही प्रकृति का परिसंख्यान (निराकरण) सम्भव हो जाता है-- तद्धेतु अन्य किसी विधा (aspect) की आवश्यकता नहीं रहती। आचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी में "संख्या" से अभिप्राय "सम्यक् ख्याति" (ज्ञान) लिया है अर्थात् आत्मा (पुरुष) का सम्यक् ज्ञान -- इससे सम्बन्धित दर्शन "सांख्य" अभिव्यक्त किया है।[14]

सांख्य दर्शन की प्राचीनता एवं अर्वाचीनता

सिद्ध कपिल परमर्षि द्वारा प्रवर्तित सांख्य दर्शन अतिप्राचीन दर्शन माना जाता है। गीता, महाभारत, रामायण, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेदादि में तो सांख्य दर्शन का नाम एवं इसके सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप में मिलते ही हैं, परन्तु उपनिषदों में भी इसके सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। वेदों में इसका नामतः उल्लेख

---

11. (क) "सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम्।" --म०भा०, शां०प०, 306/26
    (ख) "सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानदर्शनम्।" --तदेव, 12/306/41
    (ग) "संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ते। तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः।।" --तदेव, 12/306/43
12. "सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः। य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते।।" --तदेव, 12/306/50
13. "यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः। सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः।।" --तदेव, 12/306/45
14. "सम्यक् ख्यायते ज्ञायते आत्मतत्त्वज्ञानम् अनेन इति सांख्यम्।" --ई०प्र०वि०वि०

न होने पर भी इसके कतिपय सिद्धान्त प्राप्त होते ही हैं। भारतीय लगभग सभी दर्शनों पर इसके तत्वों की प्रत्यक्ष- अप्रत्यक्ष रूपेण अमिट छाप लगी हुई है। इसके सत्व, रजस् और तसम् गुणों की मान्यता वेदों से लेकर आज के विज्ञान तक ने (सम्भवतया प्रोटोन, इलेक्ट्रोन और न्यूट्रोन के रूप में) स्वीकार की है। यह एक मनोवैज्ञानिक एवं तर्कसंगत दर्शन है। यही कारण है कि इसके कतिपय सिद्धान्तों की जितनी महत्ता प्राचीनकाल में आंकी गई थी- आज के वैज्ञानिक युग में भी उनकी महनीयता विज्ञान और दर्शन-- दोनों क्षेत्रों में विशेष स्थान रखती है।

सांख्य दर्शन के सिद्धान्त

आचार्यशंकरानुसार परमात्मा अथवा आत्मा का अस्तित्व है या नहीं ? संसार की उत्पत्ति कैसे, किसके द्वारा और क्यों होती है ? संसार का कर्ता कौन है एवं इसका उपादान क्या है ? मानव जन्म का प्रयोजन क्या है ? इत्यादि बातें दर्शन-विद्या के मूल विषय होते हैं।[15] इन दार्शनिक पहेलियों का सभी दर्शनों में अपने-अपने दृष्टिकोण अनुसार समाधान किया गया है। यथा न्याय-वैशषिक दर्शनों के आचार्यों ने परमाणुवाद एवं ईश्वररचित सृष्टि के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुये कहा कि ईश्वर ने जीवों के कल्याण के लिये परमाणुओं से विश्व का निर्माण किया। दूसरी ओर, वेदान्तियों ने संसार को मिथ्या मानते हुये इसे स्वप्न-वैचित्र्य की भाँति अज्ञानजनित बतलाकर जाग्रत् दशा के विश्व को भी प्रतीति-विषयक अभिव्यक्त किया- तात्विक रूप वाला नहीं। अनादि अज्ञान को ही इस मिथ्या-प्रतीति का कारण कहा। ज्ञान से अज्ञान का अनावरण होने से जगत् अवभास का नाश एवं एकमात्र सद्वस्तु आत्मा (ब्रह्म) का प्रकाश होना माना। चार्वाकों का मत भौतिक तत्वों एवं बौद्ध जैन मत भी किंवा प्रकृति के विकार बुद्धि तत्व तक ही सीमित रहे। परन्तु सांख्य एवं योग दर्शन के आचार्यों ने जड़-चेतन अस्तित्व की इन दो पराकाष्ठाओं के मध्य का मार्ग आश्रयण कर "प्रकृति-परिणामवाद" के प्रस्तुतीकरण के समाधान करने का श्रेय प्राप्त किया। तदनुसार :-

मूल तत्त्व

प्रकृति और पुरुष- दो मूल तत्त्व हैं, जो अनादि एवं नित्य सत्य हैं। इनमें प्रकृति एक है, जड़ है और परिणामशील है, जबकि पुरुष अनन्त, चेतन और

15. "कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्तास्य विद्यते। उपादानं किमस्तीति विचारः योऽयमीदृशः।।"
-शंकराचार्य

विकार (परिणाम) रहित है। पुरुष की भावात्मक विशेषता चैतन्य है, जो प्रकाश का पर्याय है। यह सूर्यादि का भौतिक (जड़) प्रकाश नहीं है, चेतना का प्रकाश है। इस चैतन्यता से ही वस्तु का दर्शन, प्रकाशन और प्रतीति आदि हुआ करते हैं। चेतना के प्रकाश के बिना तो समस्त विश्व शून्य ही होता। अतः पुरुष ही संसार-वैचित्र्य का दर्शन करता है, जिससे इसे भोक्ता माना जाता है। वास्तव में चैतन्य ही दर्शन के द्वारा उपभोग कर सकता है। जड़ पदार्थ में ऐसी सामर्थ्य न होने से वह सर्वथा भोग्य ही होता है।

पुनः प्रकृति के विकार रूप तेईस तत्त्व होते हैं, जिन्हें "व्यक्त तत्त्व" कहा जाता है। अतः समस्त पच्चीस तत्त्व बनते हैं, जिनका वर्गीकरण चार रूपों में किया गया है :-

1. ऐसा तत्त्व जो सभी का कारण होता है, परन्तु स्वयं किसी का कार्य नहीं होता- "प्रकृति" कहलाता है।
2. कुछ तत्त्व केवल कार्य (विकार) रूप होते हैं, किसी के कारण नहीं- "विकृति" कहलाते हैं।
3. कुछ तत्त्व कारण एवं कार्य दोनों रूपों वाले होते हैं- "प्रकृति-विकृति" कहलाते हैं।
4. कोई तत्त्व न कारण ही होता है और न किसी का कार्य ही- "न प्रकृति, न विकृति" "पुरुष" कहलाता है।[16]

तत्त्व वर्गीकरण	स्वरूप	संख्या	तत्त्व-नाम
अव्यक्त	प्रकृति	1	प्रकृति (अव्यक्त, प्रधान) मूला
ज्ञ	न प्रकत्ति, न विकृति	1	पुरुष
व्यक्त	प्रकृति-विकृति	7	महत् (बुद्धि), अहंकार, पञ्च तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्रायें
	विकृति	16	मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) पञ्च महाभूत (स्थूलभूत=आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी)

चेतन	जड़
पुरुष	प्रकृति एवं इसके विकार अव्यक्त - व्यक्त

16. "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।" -सां०का०, 3

तत्त्व समीक्षा

इस जगत् के मूल घटक तत्त्व के सम्बन्ध में बौद्ध, जैन, चार्वाक, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा मत वाले अत्यन्त सूक्ष्म "परमाणु" को मानते हैं, जिससे सांख्यानुयायी सहमत नहीं है। इनके मत में स्थूल जगत् की उत्पत्ति तो भौतिक परमाणुओं से हो सकती है, परन्तु बुद्धि, मन जैसे सूक्ष्म पदार्थों की रचना इनसे सम्भव नहीं। अतः सूक्ष्म एवं स्थूल जगत् की उत्पादिका "प्रकृति" को माना गया है।

प्रकृति का स्वरूप

सत्त्व, रज और तम- इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं।[17] यह महदादि तेईस तत्त्वों का कारण होने से "मूल प्रकृति" कही जाती है। सभी तत्त्वों में मुख्य होने से "प्रधान" एवं अतिसूक्ष्म अथवा अप्रत्यक्ष होने के कारण "अव्यक्त" अभिहित होती है। इसका कोई कारण न होने से यह अहेतुमत्, सदा रहने से नित्य, सर्वत्र विद्यमान होने से व्यापक, क्रियारहित होने से जड़, किसी पर आश्रित न रहने वाली, एक, अलिंगरूप (नाशरहित), अवयव रहित होने से निरवयव एवं स्वतन्त्र मानी गई है। जगत् के पदार्थों में अवयव विद्यमान होते हैं और इसी कारण उनका संयोगादि होता है, परन्तु प्रकृति का बुद्धि आदि के साथ सम्बन्ध संयोगात्मक नहीं होता- वह तादात्म्यात्मक होता है। इसी प्रकार अपने भीतर से जगत् की उत्पत्ति करती है। अपने व्यापार के लिये परतन्त्र नहीं होती।[18] प्रकृति में सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों की विद्यमानता से त्रिगुणमयी कहते हैं। "यह अश्व है, यह गो है"- ऐसा विवेक सामर्थ्य नहीं रखती- अतः अविवेकी होती है। सभी पुरुषों की भोग्या होने से विषयरूप एवं सामान्य होती है। सुख-दुःख की अनुभूति न रखने से अचेतन, बुद्ध्यादि तत्त्वों के उत्पादन से प्रसवधर्मी कही जाती है।[19] श्वेताश्वतरोपनिषद् में बहुत ही सुन्दर ढ़ंग से प्रकृति के उपर्युक्त स्वरूप का समर्थन मिलता है।[20] जगत् के पदार्थों की अनुभूति अथवा एक ही वस्तु में भी सुख (सत्त्व), दुःख

---

17. "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।" -सां०सू०, 1/61
18. "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्। साऽवयवं परतन्त्रं-व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम्।।" -सां०का०, 10
19. "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।" -तदेव, 11
20. "अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां। बह्वः प्रजा सृजमानां सरूपाः।।" -श्वेत०उप०, 4/5

(रज) और मोह (तम) का तारतम्य उपलब्ध होने से प्रकृति का त्रिगुणरूप सत्य सिद्ध होता है।[21]

प्रकृति–अस्तित्व सिद्धि

प्रकृति के अस्तित्व के सम्बन्ध में आशंका को दूर करने के लिये कहा जाता है कि :–

1. महत् आदि तेईस तत्त्वों का सीमित परिमाण होता है। जगत् की सभी वस्तुयें सीमित, परतन्त्र एवं सापेक्ष होती हैं इसलिये सीमित परिमाण वाले कार्यों का निर्माता तत्त्व (कारण) असीमित, स्वतन्त्र, निरपेक्ष और अनन्त होना चाहिये। प्रकृति ऐसा व्यापक कारण है।
2. जगत् के पदार्थों में सुख–दुःख और मोह उत्पन्न करने वाला त्रिविध गुणों का अस्तित्व सर्वत्र देखा जाता है, तथापि इनमें एक साधारण धर्म दृष्टिगोचर होता है जो सभी को एक सूत्र में बाँधता है। यह समन्वयात्मक तत्त्व प्रकृति ही है।
3. सरूप एवं विरूप परिणाम की प्रवृत्ति बुद्ध्यादि तत्त्वों में देखी जाती है, जिसका कारण कोई विशेष शक्ति होती है। अतः यह शक्ति विशेष भिन्न–भिन्न मानने की अपेक्षा एकाश्रित सम्मत करना युक्तिसंगत है। वस्तुतः मूल प्रकृति में ही सत्त्व, रज और तम गुण होते हैं। इन गुणों में ही परिणाम की शक्ति होती है। प्रत्येक व्यक्त में यह शक्ति मूल प्रकृति से आने के कारण ही उनमें परिणाम होता है। दूसरे, सभी कार्य ऐसे कारणों से उत्पन्न होते हैं, जिनमें वे अव्यक्त अथवा बीज रूप में रहते हैं। अतः जगत्–विकास की शक्ति इसके कारण प्रकृति में है।
4. कार्य और कारण परस्पर भिन्न होते हैं। प्रत्येक कार्य कारण रूप में अव्यक्त रूप से छुपा होता है। यह विशाल विश्व कार्यों का एक समूह है, जो किसी न किसी कारण में अव्यक्त रूप से निहित रहता है। वह कारण प्रकृति है। यथा–अहंकार का कारण बुद्धि है, तो उसका भी कारण होना चाहिये– वही अव्यक्त है।
5. सांख्य मतावलम्बी कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। सरूप (सदृश) परिणाम की अवस्था में कार्य अपने कारण में लीन

---

21. "अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिंगात्।" –सां०सू०, 1/136

होकर एक हो जाता है। अत: व्युत्क्रम में कार्य अपने कारण में लीन होता है। सृष्टि की दशा में कारण से कार्य का उत्पन्न होना और प्रलय की दशा में कार्य का कारण में लीन होना देखा जाता है। जगत् के इस आविर्भाव और प्रलय का अविभाजक (विश्वरूप) तत्त्व एक होना चाहिये। वह प्रकृति है।[22]

6. किसी वस्तु के अतिदूर होने से अथवा अतीव समीप होने से, इन्द्रिय दोष से, मन की अनवस्था से, सूक्ष्म अथवा व्यवहित होने से, दूसरी वस्तु द्वारा अभिभूत होने अथवा समानता से भी उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता है।[23] इसी प्रकार प्रकृति के अतिसूक्ष्म होने के कारण उसके होते हुये भी उसका पता नहीं चलता है। परन्तु महदादि उसके कार्यों के वर्तमान होने से इनके कारण प्रकृति की सत्ता मानना भी आवश्यक है। प्रकृति को सरूप और विरूप (सदृश और असदृश) माना गया है।[24]

7. व्यक्त के आधार पर अव्यक्त का अनुमान करने की भाँति पुन: उसका भी कारण ढूँढ़ने से अनवस्था दोष होता है। अत: प्रकृति ही व्यक्त का मूल है।[25]

पुरुष का स्वरूप

सांख्य दर्शन में प्रकृति के समान ही दूसरा मूल तत्त्व पुरुष है। सभी प्राणियों में जो चेतन तत्त्व होता है, वही पुरुष कहा जाता है। चैतन्य इसका गुण अथवा धर्म नहीं होता है, प्रत्युत् यह चैतन्य स्वरूप ही होता है। प्रकृति की भाँति ही सर्वत्र व्याप्त होने से व्यापक होता है। प्रकृति से सम्पृक्त होने से ही इसका जन्म, मरण, बन्धन, मुक्ति एवं आवागमन इत्यादि कहा जाता है,

---

22. (क) "भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तित: प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य।। कारणमस्त्यव्यक्तम्। –सां०का०, 15
    (ख) "कार्यात् कारणानुभानं तत्साहित्यात्।" –सां०सू०, 1/35
23. "अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समाना-भिहाराच्च।।" –सां०का० 7
24. (क) "सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् कार्यतस्तदुपलब्धि:। महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च।।" –सां०का०, 8
    (ख) "तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलाप:।" –सां०सू०, 1/137
25. "त्रयोविंशतितत्त्वानां मूलमुपादानं प्रधानं मूलशून्यम् अनवस्थापत्त्या तत्र मूलान्तरासंभवादित्यर्थ:।" –सां०सू० 1/67 पर प्रवचन भाष्य

परमार्थतः तो यह अक्षर, अलिंग रूप ही होता है।[26] प्रकृति निर्मित लिंग (सूक्ष्म) शरीर से सम्बद्ध हुआ ही यह जन्म-मरण से होने वाले दुःखों को स्वाभाविक रूप से अनुभव करता है।[27] पुरुष को अकर्ता, निष्क्रिय और निर्गुण कहा जाता है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों के साथ शीतोष्ण आदि के संयोग से वे शीतोष्णादि कहते जाते हैं, जबकि शीतलता जल का एवं उष्णता अग्नि का धर्म होता है। उसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् गुण प्रकृति के होते हैं, परन्तु पुरुष उसके साथ तादात्म्यता से अपने को सुखी, दुःखी अथवा किंकर्त्तव्यविमूढ़ मान लेता है। चेतनता तो पुरुष की होती है, परन्तु इसके साथ संसर्ग से जड़ बुद्ध्यादि चेतन-सी प्रतीत होती है। कर्तृत्त्व गुणों का होता है, परन्तु वह इसे अज्ञानवश अपना समझ लेता है- इसीलिये बद्ध बन जाता है। वास्तव में तो वह उदासीन (साक्षी) ही होता है।[28] इसका कोई कारण न होने से यह अहेतुक, नित्य एवं निराश्रित होता है। यह निरवयव और स्वतन्त्र होता है। इसे विवेकी, निर्विषय, असामान्य और अप्रसवधर्मी कहा जाता है।[29] अतः पुरुष के धर्म साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्त्व और अकर्तृभाव होते हैं।[30] प्रकृति और पुरुष का पंगु और अन्धे की भाँति सम्बन्ध माना गया है, जिनके संयोग से ही सृष्टि आदि कार्य सम्पन्न होते हैं।[31]

पुरुष-अस्तित्त्व सिद्धि

सांख्य में पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने के लिये युक्तियों का आश्रय लिया गया है, जिनके आधार पर इसे प्रामाणिक माना गया है :-

1. जगत् के समस्त पदार्थ संघातमय है। जो कोई भी संघातमय (मिश्रित अथवा अवयवों से युक्त) वस्तुयें होती हैं- वे दूसरों के

26. "तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः।।" -सां० का०, 62
27. "तत्र जन्ममरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। लिंगस्याऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।।" -तदेव, 55
28. "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्। गुणकर्तृत्वे च कर्तेव भवत्युदासीनः।।" -तदेव, 20
29. "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा पुमान्।।" -तदेव, 11, एवं 10
30. "तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च।।" -तदेव, 19
31. "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।" -तदेव, 21

उपयोग के लिये ही होती हैं। जैसे– पलंग, आसन, बिछौना आदि। ये सभी जड़ हैं और परस्पर उपयोग में नहीं आतीं– अतः इनसे पृथक् स्वभाव चेतन पुरुष ही इनका उपभोग करता है। इसी प्रकार शरीर भी पञ्च महाभूतों का समूह होता है एवं जगत् भी महदादि तत्त्वों का मिश्रणमात्र है, अतः इनके प्रयोग के लिये अवश्य ही कोई भिन्न चेतन तत्त्व होगा– वह पुरुष ही है।

2. व्यक्त अव्यक्त में त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व एवं प्रसवधर्मित्व समान धर्म उपलब्ध होते हैं, परन्तु ये किसी असमान तत्त्व की अपेक्षा से ही ऐसे कहे जा सकते हैं। वह इनका साक्षी, ज्ञाता, त्रिगुणातीत तत्त्व पुरुष है, जो निरवयव एवं चैतन्यरूप है।

3. जड़ पदार्थों में चेतन के सम्पर्क से ही गतिशीलता दिखलाई पड़ती है। यथा– जड़ रथ चेतन सारथि के नियन्तृत्व में ही चलता है। इसी प्रकार प्रकृति के बुद्धि आदि के रूप में परिणमित होने के लिये किसी चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता है। जड़ जगत् का नियामक भी चेतन ही अपेक्षित है– वह पुरुष है।

4. यह विश्व के समस्त पदार्थ सुख–दुःख एवं मोह के रूप में भोग्य ही हैं। स्वयं जड़ होने के कारण इनका परस्पर उपभोग नहीं हो सकता। अतः इनका उपभोक्ता कोई चेतन तत्त्व अपेक्षित है, जो इन गुणों से रहित हो– वह पुरुष है।

5. जगत् त्रिगुणमय एवं दुःखमय है। इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये प्रवृत्ति देखी जाती है। जगत् के पदार्थ तो दुःख के ही माध्यम हैं, निवृत्ति के नहीं। अतः कोई इनसे पृथक् तत्त्व है, जिसमें इससे छुटकारा पाने के लिये प्रवृत्ति होती है। वह मुक्ति चाहने वाला चेतन तत्त्व पुरुष है।[32]

अतः प्रकृति की भाँति पुरुष के भी अतीव सुसूक्ष्म होने के कारण दिखलाई न पड़ने पर भी उपर्युक्त तथ्यों से उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

---

32. "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति-भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।।" –सां०का०, 17

पुरुष बहुत्व

यह पुरुष एक ही है अथवा अनेक ? इस विषय में वेदान्तियों के मत से- "आत्मा एक ही है" – इनका दृष्टिकोण भिन्न है। ये पुरुषों की अनेकता को मानने के पक्षधर हैं। ऐसा सिद्ध करने के लिये युक्तियाँ दी गई हैं :–

1. सभी पुरुषों का जन्म एवं मरण भिन्न-भिन्न रूपों, कालों एवं देशों में देखा जाता है। यदि पुरुष एक ही होता, तो एक के जन्म लेने से सभी का जन्म अथवा एक के मरने से सभी की मृत्यु हो जाती– परन्तु जगत् में अनुभव सिद्ध है कि ऐसा नहीं होता है। अतः पुरुष अनेक हैं।

2. ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि-अहंकार रूप करणों का भी सभी पुरुषों में वैविध्य देखा जाता है। सभी की इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् क्षमता से युक्त हैं। यदि पुरुष एक ही होता, तो सभी की इन्द्रियाँ समान ही होतीं। एक के अन्धा, बहिरा अथवा गूँगा होने से दूसरे भी ऐसे ही हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है– अतः पुरुष अनेक हैं।

3. सभी पुरुषों की प्रवृत्ति में भी अन्तर देखा जाता है। एककालिक स्थिति में भी सभी की क्रियायें भिन्न-भिन्न देखी जाती हैं। एक ही समय पर कोई हंसता है, कोई खेलता है, कोई रोता है। कोई विरक्त, कामी, कोई भक्त है। किसी को शासन में रुचि है। ये सभी बातें पुरुष बहुत्व की प्रतीक हैं।

4. कोई सत्त्व गुणी (देवता) है, कोई रजोगुणी (मनुष्य) है और कोई तमोगुणी (दैत्यादि) है। ये तथ्य पुरुष बहुत्व को प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि एक ही स्थिति, काल एवं देश में गुणों की विषमता का पाया जाना एक ही पुरुष कदापि सम्भव नहीं होता।

अतः सांख्य के मत में पुरुषों की अनेकता सिद्ध है।[33]

बद्ध एवं मुक्त पुरुष

परमार्थ में पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, जरा-जन्म-मरणादि से रहित है। इसका न बन्धन है, न मुक्ति। यह द्रष्टा, अकर्ता, साक्षी, भोक्ता एवं त्रिगुणातीत

33. "जन्म-मरण-करणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।" –तदेव, का० 18

निरवयव तत्त्व है। यह केवलरूप है। परन्तु अनादि अज्ञान के कारण, जब इसका प्रकृति एवं उसके विकार बुद्ध्यादि (सूक्ष्म शरीरादि) से तादात्म्य हो जाता है, तो यह उसके गुणों को अपने गुण मानने लगता है। इसी कारण इसका जन्म-मरण, सुख-दुःखादि से पीड़ित होना माना जाता है। परन्तु जब इसको प्रकृति से विवेक-ख्याति (पृथक्ता का ज्ञान) होता है, तो यह इसके बन्धन से छूटकर पुनः अपने कैवल्यभाव में स्थित हो जाता है। अतः पुरुष तत्त्वतः न बद्ध है, न मुक्त; प्रकृति के संसर्ग अथवा वियोग की अपेक्षा से ही इसको बद्ध अथवा मुक्त कहा जाता है।[34] पुरुष के प्रतिबिम्ब से युक्त लिंग शरीर ही "जीव" संज्ञा से अभिहित होता है। यह जीव वैराग्यादि भाव होने पर ज्ञान के बिना बुद्धि, अहंकार, मन और तन्मात्रों में विपर्यय से आत्माभिमान कर लेता है, जिससे देह-त्याग में इनमें ही समा जाता है– इसे प्रकृतिलीन पुरुष कहते हैं। प्रलय के अनन्तर इसे सृष्टिकाल में पुनः जन्म लेना पड़ता है।

गुणत्रय

अस्तित्व एवं स्वरूप

जगत् में समस्त पदार्थ अनुभूति में सुख-दुःख एवं मोहात्मक होते हैं। एक ही स्त्री में किसी को लगाव से सुख, सपत्नी को दुःख एवं कामीजन को मोह की संवेदना देखी जाती है। इस कार्य का कोई कारण विशेष होना चाहिये। सांख्य मत में वह गुणत्रय है– सत्त्व, रजस् और तमस्। मूल प्रकृति इन्हीं तीन द्रव्यों का समूह है। इन्हें साधारणतया "गुण" कहा जाता है। परन्तु ये वैशेषिक दर्शन अनुसार रूप, रस, गन्धादि द्रव्यों में विद्यमान पदार्थों के गुणों की भाँति गुण (धर्म) नहीं माने जाते, प्रत्युत् द्रव्य हैं। विज्ञानभिक्षु अनुसार पशु को बाँधने वाली डोरी (रस्सी, गुण) के समान सत्त्वादि की क्रिया भी पुरुष को बाँधने वाली ही होती है– अतः इनको गुण कहा जाता है।[35] इन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है[36] और इसके कार्य रूप जगत् के सभी पदार्थों में इनका अनुस्यूत होना स्वाभाविक है, क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में पाये जाते हैं। इन्हीं गुणों में विक्षोभ (विषमता) होने से व्यक्त जगत् की सृष्टि होती है। अतः व्यक्त अथवा अव्यक्त उभयदशा में– ये गुण परिणामशील होते हैं। प्रकृति दशा में अपने विशुद्ध

34. द्रष्टव्य सां० का० 62
35. "गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात् पुरुषपशुबन्धकत्रिगुणात्मकमहदादिरज्जुनिर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते।" –सां०प्र०भा०, 1/61
36. "सत्त्वरजतमसाम् साम्यावस्था प्रकृतिः।" –सां०सू०, 1/61

रूप में स्थित होने से, इनमें पारस्परिक संयोग नहीं रहता। इस अवस्था में सत्त्व का सत्त्व में, रज का रज में और तम का तम में परिणाम होता ही रहता है, जिसे प्रकृति का सरूप सजातीय (सजातीय सदृश) परिणाम कहते हैं। विरूप (विजातीय असदृश) विकार (महदादि कार्य) इनके गुण-वैषम्य में होता है। गुण इन्द्रियातीत होते हैं। इनका रूप दृष्टिपथ का विषय नहीं, प्रत्युत् इनके मायिक तुच्छ विकार क्षित्यादि ही दिखाई देते हैं।[37] बौद्धों के समान सांख्य दर्शन भी परिणामनित्यता को स्वीकार करता है। गुण-साम्यता हो या गुण विषमता प्रकृति का सजातीय (प्रलयदशा में) या विजातीय (सृष्टि दशा में) परिणाम होता ही रहता है। अतः सांख्य मत में चितिशक्ति को छोड़कर समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिणामशील होते हैं।[38] गुण प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप होते हैं एवं पुरुष के स्वार्थसिद्धि में उपकारक होते हैं। इसलिये भी "गुण" संज्ञित होते हैं।[39] इनमें संयोग-वियोग की क्रिया होने एवं लघुत्व, गुरुत्व आदि धर्म होने से भी ये द्रव्य ही प्रतीत होते हैं।

सत्त्व गुण का स्वरूप

सत्त्व गुण लघु (हलका), प्रकाशक और इष्ट (आनन्दरूप) माना गया है। ज्ञान का विषय प्रकाशन एवं इन्द्रियों द्वारा अपने विषय रूपादि का ग्रहण इसी से होता है। मन में हर्ष, सुख, सन्तोष, आनन्द इसी से होते हैं। इसका श्वेत वर्ण बतलाया जाता है।

रजस् गुण का स्वरूप

इसका स्वभाव चञ्चल है और गतिशील है। इसी के कारण समस्त पदार्थों की क्रियाशीलता सम्पन्न होती है। मन की चञ्चलता एवं इन्द्रियों की स्वविषय ग्रहण में क्रिया- इसी से होती है। सत्त्व और तम दोनों निष्क्रिय होने से इसी से उपष्टम्भकता (उकसाहट) पाते हैं। इसे दुःख रूप माना गया है- इसीलिये इसके बाहुल्य की स्थिति में वस्तु दुःखदायक होती है। इसका लोहित (लाल) वर्ण कहा जाता है। यह तेजरूप है।

तमस् गुण का स्वरूप

यह गुण गुरु (भारी) तथा आवरक (रोकने वाला) एवं स्थितिशील कहा जाता है। सत्त्व गुण का विरोधी है एवं रजोगुण की प्रवृत्ति (क्रिया) को रोकता

37. "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।।" -षष्टितन्त्र
38. "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चितिशक्तेः" -त०कौ०, का० 5
39. द्रष्टव्य त० कौ०, का० 12

है। अतः यह अज्ञान, आलस्य, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा उत्पन्न करने वाला है। यह जड़ता और निष्क्रियता का प्रतीक है। यह मोहरूप, तमोरूप (अन्धकाररूप) और कृष्ण वर्ण माना गया है।[40]

तीनों गुणों का परस्पर सम्बन्ध

ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होने पर भी दीपक की बत्ती, तेल और अग्नि की भाँति मिलकर कार्य सम्पन्न करते हैं। वात, पित्त और कफ भी परस्पर विरोधी होने पर भी शरीर को मिलकर ही धारण करते हैं। इसी प्रकार तीनों गुण मिलकर पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इन्हें मिथुनवृत्ति कहा जाता है, क्योंकि ये सदा एकत्रित रहते हैं-- इनकी परस्पर विरह कभी नहीं होती। एक दूसरे का अभिभव भी करते हैं। सत्त्वगुण रज और तम को दबाकर सुख देता है। इसी प्रकार दूसरों की प्रधानता में दुःख अथवा मोह होता है। परस्पर आश्रय कहे जाते हैं। यथा सत्त्व की स्थिति सुख में रजोगुण संवेदनानुभूति (क्रियाशीलता) एवं तमोगुण उसकी स्थिति (नियमन) सम्पन्न करते हुये आश्रय बनते हैं। परस्पर उत्पादक भी होते हैं। यथा राजा दुष्टों पर क्रोध करके दण्ड देता है, तो राजा का यह क्रोध प्रजा को सुख, दुष्टों को मोह पैदा करता है। अतः परिणामशील गुणों का परस्पर विरोधी होते हुये भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।[41]

जगत् विकास

सृष्टि क्रम

प्रकृति और पुरुष का संयोग ही जगत् रचना का उत्पादक है। इसमें त्रिगुणात्मिका प्रकृति उपादान कारण और पुरुष-संयोग निमित्त कारण कहा जाता है। प्रकृति के जड़ होने से यह विश्व केवल उसी से ही उत्पन्न नहीं हो सकता एवं निष्क्रिय स्वभाव वाले पुरुष से भी अकेले ऐसा होना सम्भव नहीं। अतः इनका संयोग अनिवार्य है। प्रकृति भोग्य है और पुरुष भोक्ता। अतः पङ्ग्वन्धन्यायवत् दोनों की प्रयोजन सिद्धि भोग्यत्व (दर्शनार्थ) एवं भोक्तृत्वार्थ (कैवल्यार्थ) होती है, जिससे उनका संयोग होता है और उससे सृष्टि।[42]

---

40. (क) "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः।।" -सां०का०, 13 एवं 12
(ख) "अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां।" -श्वेत०उप०, 4/5
41. "प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योऽन्याऽभिभवाऽऽश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।।" -सां०का०, 12 एवं 13
42. "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।" -सां०का०, 21

गुण क्षोभ

प्रलय की स्थिति में प्रकृति की साम्यावस्था होने से सत्त्व, रज और तम गुण समभाव में रहते हैं, परन्तु प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग होते ही इन गुणों में क्षोभ-सा हो जाता है, क्रियाशीलता-सी आ जाती है। गुण समभाव में न रहकर विषम स्थिति में आ जाते हैं। पृथक्करण एवं अनुपात वैविध्य हो जाता है। प्रकृति का सरूप परिणाम विरूप परिणाम में परिवर्तित होने से नवीन तत्त्वों की अभिव्यक्ति आरम्भ हो जाती है। यहीं से जगत् विकास अथवा सृष्टि का कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

महत् तत्त्व (बुद्धि तत्त्व)

प्रकृति में गुण-क्षोभ के कारण इसका प्रथम परिणाम महत्तत्त्व के रूप में होता है, जो रजोगुण की हलचल के कारण एवं तमोगुण के भारीपन के कारण सत्त्वगुण की उद्रेकता से होता है। इसे "महत् या महान्" सम्भवतया शेष तत्त्वों से प्रमुख होने से कहते हैं। बोध-साधन होने से "बुद्धि" कहते हैं, जो प्रत्येक जीव में रहती है। अध्यवसाय अथवा निश्चय करना इसका लक्षण है।[43] अपने सहित विषयों का प्रकाशन करना इसका स्वभाव है। जड़रूपा होने पर भी पुरुष के चैतन्य-प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने से चेतन-सी हो जाती है। पुरुष को इसके साथ तादात्म्य के कारण ही सुख-दुःख एवं भोक्तापन की अहन्ता होती है।[44] परन्तु जहाँ यह पुरुष के भोग-ऐश्वर्य का माध्यम बनती है, वहीं प्रकृति पुरुष का पार्थक्य प्रकट करके उसे मोक्षभाजन भी बनाती है।[45] इन्द्रियाँ विषय-ज्ञान मन-अहंकार के माध्यम से इसे अर्पित करती हैं और इससे पुरुष को ज्ञान होता है।

बुद्धि के आठ धर्म (स्वभाव)- ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य सत्त्वगुण के प्राबल्य एवं अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य तमोगुण के आधिक्य से-माने गये हैं।[46] ये भाव सांसिद्धिक (जन्मतः सिद्ध, यथा कपिलादि), प्राकृतिक

43. "अध्यवसायो बुद्धिः।" -सां०का०, 23
44. "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।।" -तदेव, 20
45. "सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानःपुरुषाऽन्तरं सूक्ष्मम्।।" -तदेव, 37
46. "अध्यवसायो बुद्धिः धर्मो ज्ञानं विरागं ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।।" -तदेव, 23

(कार्य-कारण स्वभावतः, यथा सनकादि) और वैकृतिक (प्रकृति के विकार से, यथा आचार्य, तपादि से विश्वामित्रादि) रूप से तीन प्रकार के कहे गये हैं। इनका आश्रय बुद्धि होती है, परन्तु इनके कार्यरूप, कलल, बुद्बुद् मांसपेशी (आन्तरिक) एवं कौमार यौवनादि (बाह्य) का आधार माता-पिताजन्य स्थूल शरीर होता है।[47] ज्ञान से कैवल्य, अज्ञान से बन्धन, धर्म से ऊर्ध्वगति, अधर्म से अधोगति,[48] वैराग्य से प्रकृतिलय, अवैराग्य (राग) से संसार (जन्म-मरण), ऐश्वर्य से अणिमादि सिद्धियों सहित इच्छा स्वातन्त्र्य और अनैश्वर्य से इच्छा-विघात (दुःखादि) का निमित्त (कारण) नैमित्तिक (कार्य) भाव से होना कहा गया है।[49] इसी से प्रेरित हुई प्रकृति नाना-वैचित्र्यों को धारण करती है। संसार-चक्र चलता है और पुरुष कर्मफल भोग प्राप्त करता है। बुद्धि द्वारा विवेक ख्याति से मुक्त होता है। दो प्रकार से सृष्टि विकास होता है- तन्मात्र (लिंग, भौतिक) सर्ग, जिसमें पञ्च तन्मात्र, पञ्चस्थूलभूत एवं समस्त भुवन-भावादि अन्तर्हित हैं और प्रत्यय (बुद्धि, भाव) सर्ग, जिसमें बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियों सहित विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि-मानसिक भावों की सृष्टि होती है। बुद्धि सत्त्व प्रधान होती है।

अहंकार

महत्तत्त्व में परिणाम होने से अहंकार की अभिव्यक्ति होती है। यह अहन्ता-ममता का बोधकरूप है।[50] इसी से जगत् के पदार्थों में अधिकारीपन का अभिमान होता है तथा कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। विश्व के समस्त व्यवहारों के मूल में "अहन्ता" की भावना सदैव विद्यमान रहती है। अहंकार के गुणों की विषमता के कारण- सात्त्विक (वैकृत), तैजस और तामस (भूतादि)- तीन रूप क्रमशः सत्त्व, रज और तम के प्राबल्य से संज्ञित किये गये हैं। सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ- मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ[51]-

---

47. "सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिकाः वैकृतिकाश्च धर्माद्याः। दृष्टाः करणाऽऽश्रयिणः कार्याऽऽश्रयिणश्च कललाद्याः।।" --तदेव, 43
48. "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।" --तदेव, 44
49. "वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्। ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः।।" --तदेव, 45
50. "अभिमानोऽहंकारः।" --तदेव, 24
51. "बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।" --तदेव, 26

उत्पन्न होती हैं, जबकि तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रायें अभिव्यक्त होती हैं। तैजस अहंकार दोनों का प्रवर्तक एवं सहायक होता है। परन्तु विज्ञानभिक्षु के मतानुसार मन सात्त्विक, इन्द्रियाँ राजस और पञ्च तन्मात्र तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं।[52]

इन्द्रियाँ

इन्द्रियाँ आन्तरिक शक्तियाँ होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं होतीं। केवल जिन अंगों में अवस्थित होती हैं, वहाँ अनुमान से इनकी सत्ता जानी जाती है। वे अंग विशेष इन्द्रियों के आश्रय स्थल ही होते हैं, स्वयं इन्द्रियाँ नहीं। दश इन्द्रियाँ बाह्य ज्ञान का साधन होने से बाह्येन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनका विषय केवल वर्तमान वस्तु होती है।

मन

मन ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय भी होने से उभयात्मक कहा जाता है, क्योंकि इसके सहयोग से ही वे अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। मन इन्द्रियों के निर्विकल्प ज्ञान को सविकल्प ज्ञान बनाता है। यह संकल्प-विकल्पात्मक होता है।[53]

अन्तःकरण

बुद्धि, अहंकार और मन– तीनों का समन्वित नाम अन्तःकरण होता है। इसका विषय भूत, वर्तमान और भविष्यत– तीनों कालों की वस्तुयें होती हैं। यह अन्तः इन्द्रिय कहलाता है, क्योंकि इनसे भीतरी ज्ञान होता है।[54] सभी इन्द्रियों को मिलाकर "त्रयोदश करण" कहते हैं।[55]

पञ्च तन्मात्र (सूक्ष्म, अविशेष तत्त्व)

तामस अहंकार से उत्पन्न होने वाले पञ्च तन्मात्र– शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्ध होते हैं, सूक्ष्म होने से केवल

52. "अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः। एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव।। सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामस्तैजसदुभयम्।।" –द्रष्टव्य– सां०प्र०भा०, 2/18 –सां०का०, 24, 25
53. "उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियञ्च।" –तदेव, 27
54. "अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्। साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्।।" –तदेव, 33
55. "करणं त्रयोदशविधम्।" –तदेव, 31

अनुमानित होते हैं और केवल योगीजन इनका प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह अविशेष अथवा सामान्य तत्त्व कहे जाते हैं, जिनका विषय भी सामान्य ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मात्र होता है। इनसे सूक्ष्म विषयों की उत्पत्ति होती है। यह अतीन्द्रिय होते हैं। तन्मात्र से अभिप्राय है— उतना ही, केवल शुद्ध रूप।

पञ्च स्थूलभूत (महाभूत)

पञ्च तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इन स्थूल अथवा विशेष महाभूतों के विषय भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के रूप में विशेष ही होते हैं। इनसे विशेष स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम विषयों (द्रव्यों) की उत्पत्ति होती है, जो शान्त (सात्त्विक, सुखद), घोर (राजसिक, दुःखद) और मूढ (तामसिक, मोहात्मक) होते हैं। इनके अन्तर्गत क्रमशः आठ प्रकार का देवसर्ग (ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच) एक प्रकार का मानुष सर्ग (मनुष्यादि) और पञ्च प्रकार का तिर्यक सर्ग (पशु, मृग, पक्षी, सरिसृप, वृक्ष) आता है। अतः भौतिक सर्ग चौदह प्रकार का माना जाता है। स्थावर-जंगम समस्त प्रपञ्च इन्हीं तत्त्वों के परस्पर मिश्रण से बनता है। अतः केवल पच्चीस ही तत्त्व होते हैं, जिनका प्रकृति-पुरुष संयोग से विकास होता है।[56]

विशेष सृष्टि के भीतर पुरुषों का सम्बन्ध दो प्रकार के शरीरों के साथ जुड़ा रहता है। उन शरीरों की सहायता से उन पुरुषों से सम्बद्ध बुद्धियाँ उनको विषयों का उपभोग करवाती हैं। ये दो प्रकार के होते हैं :—

स्थूल एवं सूक्ष्म (लिंग) शरीर

माता-पिता के संयोग से उत्पन्न शरीर स्थूल शरीर कहा जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है। ये षट्कोषमय कहा जाता है— रोम, रुधिर और मांस माता के शरीर से सम्बन्धित होते हैं तथा नाड़ियाँ, हड्डियाँ और मज्जा पिता के अंशों से। यह स्थूल भूतों के मिश्रण से निर्मित होता है और इसकी सहायता से भोग्य जाने वाले विषय भी ज्ञानेन्द्रियानुभूत स्थूल ही होते हैं। कलल, बुद्बुद, पेशी और पिण्ड आदि इसके आन्तरिक भाव और उत्पत्ति अनन्तर बाल्य, यौवन, जरा आदि बाह्यभाव कहे जाते हैं। मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो जाता है और

56. "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।।"
—तदेव, 22

जीवन-काल में जीव के सूक्ष्म शरीर सहित समस्त क्रिया कलापों का आधार होता है। यह कार्य रूप होता है।[57]

सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर अनुमान सिद्ध होता है। यह बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियों और पञ्च तन्मात्रों सहित-- कुल अठारह अवयवों का समूह होता है। स्वर्ग-नरक, कर्मफलभोग, योन्यान्तर संक्रमण इसी से सम्पन्न होने से इसका अनुमान किया गया है। धर्मादि भावों से अधिवासित सूक्ष्म शरीर के माध्यम से ही ऊर्ध्व-निम्न लोकों अथवा योनियों में गमन होता है। स्थूल शरीर के नष्ट होने पश्चात् भी यह बना रहता है और प्रलय-काल में ही लीन होने से लिंग शरीर कहा जाता है। इसकी गति प्रस्तर, जल, नभ, भूमि प्रत्येक स्थान पर अबाध होती है। चैतन्य प्रतिबिम्ब से युक्त सूक्ष्म शरीर ही जीव कहा जाता है।[58]

जगत् प्रलय

जगत् विनाश की स्थिति में समस्त जड़-चेतनमय स्थूल प्रपञ्च, भुवन-भावादि पञ्च महाभूतों सहित पञ्च तन्मात्रों में विलीन हो जाते हैं। पञ्च तन्मात्रें एवं एकादश इन्द्रियाँ अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि (महत्) प्रकृति में समा जाती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन अनुसार सृष्टि एवं प्रलय क्रम दिखाया गया है।

त्रिविध प्रमाण

प्रमाण

सांख्य शास्त्र में पच्चीस तत्त्वों अथवा प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से ही सम्भव मानी गई है। प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के करण (किसी कार्य का उत्कृष्टतम साधक) को प्रमाण कहा जाता है। अतः इसमें संशय, विपर्यय, तर्क और स्मृति का भी निराकरण होता है। प्रमाण तीन प्रकार का माना गया है- प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त श्रुति अर्थात् विश्वसनीय शब्द।

1. प्रत्यक्ष (दृष्ट) प्रमाण

इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से बुद्धि में अध्यवसायात्मक (निश्चयात्मक)

---

57. "मातापितृजाः .... मातापितृजा निवर्त्तन्ते।" -सां०का०, 39, एवं द्रष्टव्य सां०का०गौ०भा०, 39

58. "पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्।।" -सां०का०, 40

होने वाले ज्ञान (बोध व्यापार) को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।[59] प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में प्रत्येक इन्द्रिय के व्यापार से जो बुद्धि में निश्चयात्मक बोधवृत्ति (ज्ञान) उत्पन्न होती है-- वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। यथा- यह घोड़ा ही है, गाय नहीं। जिस समय इन्द्रिय किसी विषय से सम्बद्ध होती है, तो उसकी संवेदन को मन ग्रहण करके अहंकार को देता है। वह पुनः बुद्धि को अर्पित कर देता है। बुद्धि तदाकार (विषयाकार) हो जाती है। उस समय तमोगुण दबा रहता है और सत्त्वगुण का उद्रेक हो जाता है, जिससे उस विषय का प्रकाश (निश्चयात्मक ज्ञान) होता है, जिसे अध्यवसाय भी कहते हैं। अतः इन्द्रिय के माध्यम से विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का अध्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। सांख्य मतानुसार यह चैतन्य-प्रतिबिम्बित बुद्धि का ही विषय है, परन्तु पुरुष तादात्म्य से अपना व्यापार मान लेता है। प्रत्यक्ष प्रमाण की दत्त- परिभाषा अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य मत में प्रत्यक्ष प्रमाण के सविकल्पक एवं निर्विकल्पक भेदों पर बल नहीं दिया गया है।

2. अनुमान

लिंग की सत्ता के आधार पर लिंगी की सत्ता का ज्ञान अनुमान प्रमाण कहा जाता है। यथा सांसारिक व्यवहार में यह बात प्रत्यक्ष (दृष्ट) प्रमाण से सुविदित हो जाती है कि जहाँ-जहाँ धूम (धूआँ) होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ अग्नि का अभाव हो, वहाँ धूम का भी अभाव होता है। इसलिये कहीं धूम को देखकर अग्नि को देखे बिना ही लोग वहाँ अग्नि की सत्ता (विद्यमानता) जान जाते हैं। इस प्रकार धूम अग्नि का चिन्ह अथवा लिंग है और अग्नि धूम का लिंगी। लिंग की सत्ता के आधार पर लिंगी की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सांख्य-शास्त्र में अनुमान के तीन प्रकार माने गये हैं- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट।[60]

(क) **पूर्ववत् अनुमान :** जिस अनुमान में लिंगी और लिंग के साहचर्य का निश्चय दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण के बल पर पहले (पूर्व में) कहीं हो चुका हो, उस अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है। जैसे- धूम और अग्नि का साहचर्य पहले रसोईघर में निश्चित् हो चुका होता है। तदनन्तर कोई व्यक्ति दूर वन में लगातार उठती

---

59. (क) "प्रतिविषयाऽध्यवसायो दृष्टम्।" -सां०का०, 5
(ख) "यत्सम्बद्धंसत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्।" -सां० सू०, 1/89
60. "त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। तल्लिंग-लिंगिपूर्वकम्।" -सां०का०, 5

नैयायिक (वैशेषिक भी) आदि सत् पदार्थ (कारण) से असत् पदार्थ (कार्य) की उत्पत्ति मानते हैं। जैसे मिट्टी (कारण) में घट (कार्य) असत् होता है, अन्यथा दोनों पर्याय होते और मिट्टी से ही जलाहरणादि का कार्य ले लिया जाता। बौद्धों अनुसार जब कारण वस्तु ही विनष्ट (अविद्यमान) होती है, तब कार्योत्पत्ति होती है, न्याय अनुसार कारण वस्तु विद्यमान ही रहती है, उसमें कार्य नवीन रहता है। यह असत्कार्यवाद कहा जाता है। सांख्य वाले सत् से असत् की उत्पत्ति का विरोध करते हैं, क्योंकि दो सत्तायुक्त पदार्थों का ही सम्बन्ध रहता है। अत: कार्य को उत्पन्न करने वाले पदार्थ की क्रिया (कारक व्यापार) के पहले जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति खरहे की सींग की तरह असम्भव है।

अद्वैत वेदान्ती सत् (कारण) से विवर्त (कल्पित कार्य) की उत्पत्ति मानते हैं, जिसमें सभी कार्यों की वास्तविक सत्ता नहीं रहती। अत: वेदान्ती एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं। जगत् उसमें अज्ञानवश उसी प्रकार कल्पित है, जैसे सीपी में चाँदी अथवा रस्सी में साँप। सीपी एवं रस्सी का ज्ञान होने से चाँदी एवं सर्प का आरोप बाधित हो जाता है। उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान द्वारा माया (अज्ञान) का बन्धन दूर हो जाने से एकमात्र ब्रह्म ही सत् दिखाई देता है और जगत् भ्रान्ति। अत: जगत् उसका विवर्त (मिथ्यात्मक रूपान्तर) है, परिणाम (वास्तविक रूपान्तर) नहीं। वेदान्त की अपेक्षा न्याय और सांख्य में वस्तु का वास्तविक रूपान्तर होता है। सांख्य मत वाले वेदान्तियों के विवर्तवाद का खण्डन करते हैं। इनका कथन है कि जैसे– "चाँदी नहीं, सीपी है" भ्रान्ति नष्ट होने पर चाँदी का बाध हो जाता है, वैसा– "यह संसार नहीं है, ब्रह्म है"– ऐसा विरोध व्यवहार में नहीं मिलता। दूसरे सीपी और चाँदी में उजलेपन की एकता है, वैसी चेतन ब्रह्म और जड़ जगत् में नहीं। अत: वेदान्त का विवर्तवाद अनुचित है।[63]

सांख्य मतानुसार सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य उत्पन्न होने से पूर्व कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। कारण व्यापार के पहले अव्यक्त रूप में विद्यमान कार्य कारण– व्यापार के पश्चात् व्यक्त रूप में

---

63. "इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजात न वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति। तत्रासतः सज्जायत इति न प्रामाणिकः पक्षः। .... नापि सतोऽसज्जायते...। नापि सतो ब्रह्मतत्त्वस्य विवर्तः प्रपञ्चः। ...।" --स०द०सं०, सां०द०, पृ० 633 तः 639

उत्पन्न होता है। बीज में अव्यक्त रूप से अवस्थित अंकुर ही विकास को प्राप्त होकर व्यक्त हो जाता है। तिलों में स्थित तेल ही प्राप्त किया जा सकता है, जल से नहीं। इसी प्रकार प्रकृति में पहले से स्थित जगत् प्रकट हो जाता है। सत् कभी असत् नहीं होता और असत् कभी सत् नहीं हो सकता।[64] अत:कारण की व्यक्तावस्था का ही नाम कार्य एवं कार्य की अव्यक्तावस्था की ही संज्ञा कारण है। कारण और कार्य में वस्तुत: अभिन्नता है। यह कार्य-कारण का भेद व्यावहारिक है। इसी सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है अर्थात् कार्य का कारण रूप में भी सत् होना। इस सिद्धान्त की पुष्टि में सांख्याचार्यों ने युक्तियाँ दी हैं :-

1. जिसमें जिस वस्तु का अभाव हो, उससे वह वस्तु कथमपि उपलब्ध नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता नहीं होती है, तो किसी के द्वारा कितना भी प्रयत्न करने पर उसे प्राप्त नहीं किया जाता है। जैसे रेत में तेल नहीं होता, तो कर्ता द्वारा सहस्त्रों कोशिश करने पर भी वह उससे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

2. किसी विशिष्ट कार्य के लिये किसी विशिष्ट कारण (साधन) का व्यवहार देखा जाता है। लोक में जैसे दही की आवश्यकता है, तो दूध लिया जाता है, क्योंकि दही उसमें अव्यक्त रूप में अवस्थित रहता है। तेल के लिये तिलों को कोल्हू में पेरते हैं, न कि पत्थरों को। अत: किसी कार्य के लिये उसी उपादान को लिया जाता है।

3. यदि उपर्युक्त नियम न माना जाये, तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाता। परन्तु ऐसी बात नहीं देखी जाती। सभी से सब वस्तुएँ उत्पन्न नहीं होती। जैसे मिट्टी से घड़ा तो बन सकता है, कपड़ा अथवा कम्बल नहीं।

4. जिस (कारण) में जो शक्ति (सामर्थ्य) होती है, उससे वही (कार्य) उत्पन्न होता है, अन्य नहीं। तन्तुओं में पट बनाने का सामर्थ्य है। तिलों में तेल उत्पन्न करने की सामर्थ्य है।

5. कार्य और कारण का तादात्म्यभाव होता है। वृक्ष कार्य है, तो उसका कारण बीज है। इसी प्रकार बीज कारण है, तो वृक्ष उसका कार्य। जगत् में कार्य-कारण का नियमित सम्बन्ध देखा जाता है।

---

64. "न पुनरसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः। यथोक्तं भगवद्गीतायाम् - "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" -गी० 2/16 -स०द०सं०, पृ० 638

अतः इन तथ्यों के आधार पर सिद्ध होता है कि कार्य अपने कारण रूप में भी सत् होता है।[65] उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति से पूर्व भी सत्य ही होती है। समस्त जगत् उत्पत्ति से पहले मूल प्रकृति में विद्यमान रहता है।

बन्ध–मोक्ष

पुरुष तत्त्वतः अक्षर, निर्लेप और केवलरूप (मुक्त) है, परन्तु अज्ञान (अविवेक) के कारण उसका प्रकृति के साथ संसर्ग हो जाता है। इस संयोग से प्रकृतिजन्य दुःखादि का जो उसमें तादात्म्य के कारण अहंत्व–ममत्व होता है, वही पुरुष के लिये संसारी (बन्धन की) दशा है।[66] अतः संसार का मुख्य कारण अविवेक है और विवेक (प्रकृति पुरुष का पार्थक्य ज्ञान) ही मोक्ष है, जिसे सांख्य में कैवल्य (केवलीभाव) कहा जाता है। अतः वास्तव में कोई भी पुरुष बन्धन में नहीं पड़ता है और न ही मुक्त होता है। न ही इसका संसरण (आवागमन) ही होता है। केवल बुद्धि ही संसरण करती है। नाना प्रकार के परिणामों में प्रकट होती हुई बुद्धि ही बन्धन में पड़ती है और उसी का बन्धन से छुटकारा होता है। अतः विवेक ही मुक्ति और अविवेक ही बन्धन है। ये विवेक और अविवेक दोनों बुद्धि के ही परिणाम, स्वभाव हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष तो बुद्धि के भीतर प्रतिबिम्बत होता हुआ उसके स्वभावों को मानों अपने स्वभाव समझता हुआ ऐसे ही उनमें उलझा–सा रहता है। अतः बुद्धि के संसर्ग से एवं उसमें प्रतिबिम्बत होने से ही बुद्धि ही के द्वारा वह अपने को बुद्धि ही के बन्धन से बद्ध समझता है। बुद्धि ही की विवेकख्याति से अपने को मुक्त समझता है।[67] ऐसा समझना भी बुद्धि का ही स्वभाव है। अविवेक एवं उसके संस्कारवश ही पुरुष बद्ध अथवा मुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार बुद्धि के ही सुख–दुःखादि की तरह विवेक–अविवेक, बन्धन–मोक्ष केवल उसी के ही धर्म होते हैं। अतः बुद्धि ही धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य (राग), ऐश्वर्य, अनैश्वर्य और अज्ञान के द्वारा अपने को बन्धन में डाल लेती है ओर वही अपने आपको ज्ञान के द्वारा मुक्त कर लेती है।[68] बन्धन और मुक्ति के पीछे बुद्धि का एकमात्र लक्ष्य (व्यापार) पुरुषार्थ

---

65. "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।" –सां०का०, 9
66. "तत्र जन्ममरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। लिंगस्याऽऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।।" –तदेव, 55
67. "सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान–पुरुषाऽन्तरं सूक्ष्मम्।।" –तदेव, 37

ही होता है। अर्थात् अधर्मादि सात धर्मों के द्वारा अपने आपको बन्धन में डाल देने और आठवें ज्ञान के द्वारा अपने आपको मुक्त कर देने में बुद्धि को केवल यह प्रयोजन होता है कि पुरुष का सम्बन्ध बुद्धि से टूट जाये और वह अपने स्वाभाविक ताटस्थ्य भाव से ही पुनः ठहर जाये।[69] यह पुरुषार्थ सिद्ध होने पर प्रकृति पुरुष को सदा के लिये छोड़ जाती है और पुरुष अपने कैवल्यभाव में पुनः अवस्थित हो जाता है।[70] प्रकृति और पुरुष की पृथक्ता का ज्ञान ही विवेकख्याति कहा जाता है। उसके होने पर धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। वह प्रारब्धकर्मों के संस्कारवश स्थूल शरीर को चक्रभ्रम की गति के समान धारण करता है, इसे ही जीवन्मुक्ति कहते हैं।[71] देह-त्याग की दशा में उसे ऐकान्तिक (पूर्णरूपेण) और आत्यन्तिक (सदा के लिये) मुक्ति मिल जाती है।[72]

सांख्य में ईश्वर की सिद्धि अथवा असिद्धि

सांख्य मत में ईश्वर को माना गया है अथवा नहीं– इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। कापिल सांख्य अथवा उपनिषद् पुराण, महाभारत गीतादि में जो सांख्य मत का निरूपण किया गया है, उसमें तो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है।[73]

परन्तु अर्वाचीन सांख्य– जैसे ईश्वरकृष्ण की सांख्य कारिका, तत्त्व समास– में तो ईश्वर शब्द का उल्लेख भी नहीं मिलता। सांख्यसूत्रों में एक सूत्र "ईश्वरोऽसिद्धे" (1/92) मिलता है, जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। परन्तु अर्वाचीन आचार्यों में ही विज्ञानभिक्षु योग-सम्मत सांख्य-ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं अर्थात् ईश्वर एक विशेष पुरुष है, सर्वत्र है, सर्वकर्ता है। वह मुक्त एवं सिद्ध पुरुष है। उसमें कोई क्लेशादि नहीं है।[74]

सर्वदर्शन संग्रह में सांख्य दर्शन के निरूपण में जगत् प्रवर्तक प्रकृति को

---

68. "तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति, बध्यते, मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः।।" –तदेव, 62
69. "रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।।" –सां०का०, 63
70. "एवं तत्त्वाभ्यासात् .... विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।" –तदेव, 64
71. "सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः।।" –तदेव, 67
72. "प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।।" –तदेव, 68
73. (क) "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।" –श्वेत०उप०, 4/10
    (ख) "मयाध्यक्षेण प्रकतिः सूयते चराचरम्।" –भ० गी०, 9/10

मानकर परमेश्वर के अस्तित्व (प्रवर्तकत्व) का खण्डन किया गया है। तदनुसार न्याय-सम्मत ईश्वर पर कटाक्ष करते हुये आशंका प्रकट की गई है कि यह जो कहा जाता है– "परमेश्वर दयावश जगत् की रचना में प्रवृत्त होता है"– सर्वथा अनुचित है। प्रश्न किया गया है कि वह दया प्रवृत्ति सृष्टि के पहले होती है अथवा पश्चात् में। पहले विकल्प में यह दोष है कि शरीरादि के अभाव से दु:ख की उत्पत्ति ही नहीं होगी, चूँकि दु:ख शरीर में ही होता है, अत: जीवों में दु:ख को हटाने की इच्छा (करुणा) नहीं मानी जा सकती और इस प्रकार उनका कैवल्य भी नहीं होगा। दूसरे विकल्प में अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है अर्थात् करुणा से सृष्टि होती है और सृष्टि होने पर करुणा।[75]

सांख्यकारिका 61 के गौड़पाद भाष्य में ईश्वर के निर्गुण होने से सगुण सृष्टि की उससे असम्भवता दिखाई गई है। इसी प्रकार काल एवं स्वभाववाद को भी प्रकृति का व्यक्त रूप ही बतलाकर सृष्टि कार्य में प्रकृतिकारणतावाद की स्थापना की गई है। ईश्वर अथवा आत्मकारणता का खण्डन किया गया है।[76] इसीलिये सम्भवतया अर्वाचीन सांख्य मत को निरीश्वरवादी माना गया है। परन्तु लोकमान्य तिलक सांख्य सूत्र 1-89, जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपित है, के बाद 1-92 में ईश्वरासिद्धि कहने का तात्पर्य उसके प्रकृति की तरह अतिसूक्ष्म होने से प्रत्यक्षत: असिद्ध लेते हैं, सर्वथा अभाव नहीं, प्रत्युत् प्रकृतिवत् अस्तित्वयुक्त।

74. "सां०प्र०सू०, 3/58 एवं "तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।" –सां० सू०, 1/96
75. "यस्तु 'परमेश्वर: करुणया प्रवर्तक:' ..... करुणया सृष्टि: सृष्टया च कारुण्यमिति।" –स०द०सं०, सां०द०, पृ० 644,45
76. "अत्र सांख्याचार्या आहु: – निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणत: प्रजा ..... कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव ? ..... व्यक्ताव्यक्तपुरुषाश्रय: पदार्था: तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति ... स्वभावोऽप्यत्रैव लीन:। तस्मात् काल: न कारणम्। नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणम्, न प्रकृते: कारणान्तरमस्तीति।" –सां०का०, गौ०भा०, पृ० 101

पञ्चम अध्याय

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और सांख्यकारिका में संकलित सामग्री की दार्शनिक समीक्षा

कृतियों का सम्बन्धित दर्शनों में स्थान

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा अद्वैत शैव सिद्धान्त की एक अद्वितीय रचना है, जिसमें आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वर (महेश्वर=परमसत्ता) की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) पर अत्यन्त सरल, सुबोध एवं तर्कसंगत ढ़ंग से प्रकाश डाला है। इसकी महत्ता के प्रभाव से ही कश्मीर अद्वैत शैव दर्शन का "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" नाम सुप्रसिद्ध है। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रतिनिधि कृति है और सिद्ध सोमानन्द के अद्वितीय शैवी-ज्ञान (शिवदृष्टि) का प्रतिबिम्बरूप है। इसी को आधार बनाकर स्वयं उत्पलदेव ने इस पर वृत्ति एवं टीका भी लिखी और आचार्य अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी एवं विवृति विमर्शिनी लिखी। आचार्य क्षेमराज ने इसके साररूप में "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" लिखी है। राजानक भास्कर ने इसी के आधार पर "भास्करी" की रचना की है। अतः ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका प्रत्यभिज्ञा दर्शन की अमूल्य निधि है एवं इसकी मूलविचारधारा का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा को सर्वदुःखनाश एवं परमसम्पदा (माहेश्वर्य, शिवता) प्राप्ति का अमोघ उपाय अभिव्यक्त किया गया है।[1]

सांख्यकारिका सांख्य दर्शन के अर्वाचीन स्वरूप की ईश्वरकृष्ण द्वारा रचित एक मौलिक रचना है, जिसमें इस दर्शन के सम्बन्ध में अतीव सरल, सामान्यजन सुलभ, सहज परिचय मिलता है। उपनिषदों, पुराणों, महाभारत, गीतादि में जो सांख्य मत का निरूपण मिलता है, वह इस दर्शन का प्राचीन स्वरूप प्रतीत होता है और सम्भवतया इस दर्शन के प्रतिपादक सिद्ध कपिल द्वारा

1. "समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।" –ई०प्र०का०, 1/1

सम्मत हो। परन्तु उनकी कोई मौलिक रचना उपलब्ध न होने से एवं यत्किञ्चित् सांख्य-तत्त्वों का उपर्युक्त कृतियों में वर्णन बिखरा पड़ा होने से, इस दर्शन की सम्यक् जानकारी असम्भव-सी थी। सांख्यकारिका में इसका स्पष्ट, सुनियोजित एवं शृँखलाबद्ध निरूपण होने से इस रचना का स्थान अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसको सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। सुदूर प्राचीनकाल में भी इसके भाष्यों (माठर वृत्ति आदि, जिसका मूल सहित चीनी भाषा में भी अनुवाद हो चुका था और "सुवर्णसप्तति" अथवा "कनक सप्तति" कहलाती थी) की विख्याति से इसका मूल्यांकन किया जा सकता है। माठरवृत्ति, जय मंगला, युक्तिदीपिका, गौड़पाद भाष्य एवं तत्त्वकौमुदी- इसकी महत्त्वपूर्ण टीकायें हैं, जो इसके तत्त्वों के समझने में विशेष सहायक हैं। अतः सांख्यकारिका सांख्य दर्शन की एक अनुपम रचना है एवं इस दर्शन के सिद्धान्तों की मूल अभिव्यक्ति के लिये अद्वितीय पूञ्जी है। इसमें त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक और ऐकान्तिक शान्ति के लिये "व्यक्त", "अव्यक्त" और "ज्ञ" की पृथक्ता का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।[2]

परमसत्ता की समस्या

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में दृढ़तापूर्वक परमसत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। वह ज्ञान और क्रिया शक्तियों से समन्वित है, आदि सिद्ध है। सभी की आत्मा है। इसलिये इस आत्म-महेश्वर के अस्तित्व अथवा नास्तित्व की प्रतिपादकता नहीं हो सकती। क्योंकि जो स्वतः सिद्ध है, उसको पुनः सिद्ध करने से क्या अभिप्राय ? एवं जो इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है, वह बिना अपनी आत्मा की विद्यमानता के ऐसा कैसे कर सकेगा ?[3] आद्यशंकराचार्य ने भी कहा है कि जो आत्मा की सत्ता का निषेध करता है, यह स्वयं उसका स्वरूप होती है।[4] परमसत्ता के प्रकाश (ज्ञान) और विमर्श (क्रिया) रूप होने का प्रबल समर्थन है, क्योंकि प्रकाश तो स्फटिकादि जड़ पदार्थों का भी होता है, परन्तु उन्हें स्वरूप-प्रतीति (self-awareness) नहीं होती है।[5] इसलिये आत्मा चैतन्यरूप

---

2. "श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।" -सां०का०, 2
3. "कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे। अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।।" -ई०प्र०का०, 1/2
4. "य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।" -ब्र०सू०, शां०भा०, 2/3/7
5. "स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा। प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।।" -ई०प्र०का० 1/42

है। चित्क्रिया ही चितिकर्तृता अभिहित होती है। इसी को विमर्श कहा जाता है। चितिशक्ति के इसी माहात्म्य (चमत्कार) से यह (आत्मा) जड़ों से विलक्षण कहा जाता है।[6] यह चिति ही परावाक् स्वरसोदिता (नित्योदिता) और प्रत्यवमर्शात्मा (विमर्शस्वरूप) होती है, जिसे परमात्मा का मुख्य स्वातन्त्र्य एवं माहेश्वर्य कहा गया है।[7] यह चिति क्रियाशक्ति स्फुरत्ता (स्फुरणकर्तृता), महासत्ता (अभावाप्रतियोगिनी, अभावव्यापिनी, सत्ता, भवत्ता, भवनकर्तृता), नित्या, देश एवं काल से अस्पर्शिता, और विश्वात्मा परमेश्वर की स्वात्म-प्रतिष्ठारूपा हृदय कही गई है।[8] आत्मा के इस स्वातन्त्र्य से ही वह अद्वयस्वरूप होते हुये भी[9] अपनी माया शक्ति से अपने को भेदरूप (विश्वरूप) से आभासित करती है, तब भिन्नवेद्य की अपेक्षा से ज्ञान (स्मृति) संकल्प, अध्यवसायादि करने वाले मन-बुद्धि वृत्तियों के रूप में भी वह चिति ही होती है।[10] साक्षात्कार क्षण ज्ञान में भी चित् का सूक्ष्म अर्थप्रत्यवमर्श विद्यमान होता ही है, अन्यथा उस-उस स्थान पर पहुँचने अथवा छोड़ने की, तीव्र दौड़ने आदि की क्रिया प्रतिसंधान के बिना कैसे सम्भव हो सकती है ?[11] प्रकाशात्मा में जो "अहमिति" अहं प्रत्यवमर्श होता है, वह परावाग्रूप होने से साभिलाप होने पर भी स्वभावभूत प्रत्यवमर्श (आत्म-प्रतीति) होता है, न कि विकल्प। क्योंकि विकल्प द्वयाक्षेपी विनिश्चिय अर्थात् प्रतियोगी निषेधपूर्व निश्चय होता है, परन्तु प्रत्यवमर्श की स्थिति में प्रतियोगी का होना नितान्त असम्भव है।[12] इसी तात्पर्य से उत्पलदेव ने शिवदृष्टि वृत्ति में परावाग्रूप शब्द को परमेश्वर का वक्त्र कहा है, अतः मायादशा

---

6. "आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता। तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः।।"
—तदेव, 1/43

7. "चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः।।"
—तदेव, 1/44

8. "सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी। सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।"
—तदेव, 1/45

9. "स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः। प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत्।।"
—तदेव, 1/47

10. "मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा। कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः।।"
—तदेव, 1/49

11. "साक्षात्कारक्षणेऽप्यस्ति विमर्शः कथमन्यथा। धावनाद्युपपद्येत प्रतिसंधानवर्जितम्।।"
—तदेव, 1/50

12. "अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः। नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः।।"
—ई०प्र०का०, 1/53

वाली वागिन्द्रिय का यह (विमर्श, पराशब्दनात्मा) विषय नहीं है।[13] इसलिये सभी पदार्थों के क्रम से आच्छुरित जो यह प्रतिभा (अन्तः स्थित आभास) है, वह सर्वसंवित्-कालव्यापी अक्रम, अनन्त, चिद्रूप (चिन्मय) आत्मसंज्ञ प्रमाता है और स्वांगभूत प्रमेय (अभेदज्ञान) में निर्मातृता से महेश्वर है।[14] वह चिद्रूप परमात्मा अपने विमर्श संज्ञक मुख्य एवं अव्यभिचारी स्वभाव के कारण ही महेश्वर कहा जाता है। चित्तत्त्व, विश्वात्मा, परमशिव का 'अहं-विमर्शन' (पराहन्ता स्वरूप स्वात्मा की प्रतीति=अस्तित्वानुभूति) ही उसकी शुद्ध ज्ञान और क्रिया कही जाती है।[15] अतः विश्वरूप "अहमिदं" ऐसे अखण्ड आमर्श से आप्लावित (बृंहित) स्वात्मा ही समस्त प्राणियों का एक महेश्वर है।[16] यह महेश्वर अपने अन्तः स्थित ही स्थावरजंगम (चराचर) जगत् को अपनी इच्छा से बाह्य रूप (भेदरूप) में आभासित करता है और विविध शरीरों में प्रवेश करता है।[17] अपने स्वरूप में अपनी माया शक्ति के स्वातन्त्र्य से अपरिज्ञान प्रतीति करके अनेक पुरुषों अर्थात् अनाश्रितशिवप्रभृति सकल पर्यन्त प्राणियों का रूप धारण करता है[18] और अभेद ज्ञान से पति (परमशिव) रूप में अभिव्यक्त हो जाता है।[19] अतः यह चित्तत्त्व (महेश्वर) ही विश्वरूप है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ज्ञान, स्मृति, अपोहनादि शक्तियों से समन्वित इसी द्वारा समस्त पदार्थों के ज्ञानों का अनुसन्धान होता है।[20] गीता में भी श्रीकृष्ण स्मृति, ज्ञान और अपोहन को अपनी शक्तियाँ अभिव्यक्त करते हैं।[21] यदि यह चिद्रूप प्रमाता नित्य एवं

---

13. "वागिन्द्रियं हि मायापदे एव स्थितम्, शब्दस्तु परतन्मात्ररूपः परव्योममहाभूतमय परमेश्वरस्य पञ्चब्रह्मविन्यासे वक्त्रमुच्यते।" –शि०दृ०वृ०, पृ० 88
14. "या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता। अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।।" –ई०प्र०का०, 1/64
15. "स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः। विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।।" –तदेव, 1/88
16. "स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः। विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः।।" –तदेव 4/1
17. "तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्। भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः।।" –तदेव, 1/59
18. "स्वस्वरूपापरिज्ञानमयोऽनेकः पुमान्मतः।" –तदेव, 4/3
19. "स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः। मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः।।" –तदेव, 3/14
20. "न चेदन्तःकृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः। स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्।।" –तदेव, 1/23
21. "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।" –भ०गी०, 15/15

एक न होता तो परस्पर भिन्न ज्ञानों का अनुसन्धान सम्भव न होने से लोक स्थिति ही नष्ट हो जाती।[22] स्वयं प्रकाशरूप है और जगत् के पदार्थ भी तद्रूप ही हैं।[23] यह पूर्णाद्वैत, एक, परमार्थसत्ता, सर्वशक्तिमान्, नित्य चिन्मय और स्वैरी है।[24] अतः परमसत्ता विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय है।

परन्तु सांख्यकारिका में परमसत्ता के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति से ही महदादि प्रभृति स्थूल पृथिवी आदि पर्यन्त समस्त तत्त्वों, भुवनों एवं भावों की उत्पत्ति मानी है और प्रलय की अवस्था में पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं।[25] पुरुष का अस्तित्व तो अवश्य माना गया है, परन्तु वह निष्क्रिय शक्तिहीन तत्त्व है। उससे न कुछ उत्पन्न होता है और न वह किसी से आविर्भूत होता है। अतः वह अक्षर (नित्य, विनाशरहित) अकर्ता, निर्गुण, द्रष्टा (उदासीन), साक्षी, केवलरूप एवं चेतन है।[26] यहाँ चेतनता से अभिप्राय केवल प्रकाश (ज्ञान) ही हो सकता है, प्रत्यभिज्ञा दर्शन सम्मत ज्ञान-क्रिया के स्वातन्त्र्य से समन्वित चितिक्रिया नहीं। अतः सृष्टि निर्माण में उसका योगदान ही क्या हो सकता है ? प्रकृति त्रिगुणात्मिका एवं स्वतः परिणामिनी होने से स्वयं जगत् रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। सम्भवतया प्रकृति के ऐसे माहात्म्य के कारण ही ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रकृतिकारणवाद को प्रश्रय दिया है। अब प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वरकृष्ण प्रकृति की ही सर्वश्रेष्ठता के पक्षधर थे और जगत्-निर्माण में परमसत्ता अथवा ईश्वर के कोई योगदान अथवा अस्तित्व को ही मानने की आवश्यकता नहीं समझते थे, तो उन्होंने स्पष्टतया इसका उल्लेख क्यों नहीं किया ? विद्वानों में इसके समाधानहेतु मतभेद हैं। अतः इसके सम्भावित विकल्पों पर विचार करना अपेक्षित है :-

(क) ऐसा भी हो सकता है कि ईश्वरकृष्ण ने "ईश्वर" के सम्बन्ध में कुछ अवश्य लिखा हो, परन्तु वह कारिका, कैसे भी, कालग्रास बन गई हो अथवा लुप्त कर दी गई हो, क्योंकि रचना अतीव प्राचीन है, अतः वास्तविकता के विषय में क्या कहा जा सकता है।

---

22. "एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्। ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः।।" --तदेव, 1/22
23. "प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति।" --तदेव, 1/34
24. "स हि पूर्वानुभूतार्थोपलब्धा परतोऽपि सन्। विमृशन्स इति स्वैरीस्मरतीत्यपदिश्यते।।" --ई०प्र०का०, 1/24
25. "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।।" --सां०का०, 22
26. द्रष्टव्य- सां०का०, 10, 11 एवं 19

(ख) ईश्वरकृष्ण ने स्वयं जानबूझकर ईश्वर के अस्तित्व अथवा योगदान की आवश्यकता न समझते हुये कुछ न लिखा हो, क्योंकि यदि उसे मानते तो अवश्य लिखते, जिसको मानते थे (प्रकृति को) उसके विषय में अवश्य लिखा है। अतः न लिखने का तात्पर्य है, उसको न मानना। न्यायशास्त्र का भी किसी वस्तु के अस्तित्व को मानने एवं नास्तित्व को जानने का ऐसा ही सिद्धान्त है।[27]

इस तथ्य की पुष्टि में सांख्यकारिका के प्राचीन एवं प्रामाणिक गौड़पाद भाष्य को उद्धृत किया जा सकता है। इसकी 61वीं कारिका की व्याख्या में प्रसंगवश जगत् कारणवाद की जिज्ञासा में कहा गया है कि कुछ लोग ईश्वर को सृष्टि के निर्माण में कारण मानते हैं। यथा– "यह जीव अज्ञ है और अपने सुख-दुःख को भोगने में स्वयं असमर्थ है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित हुआ ही स्वर्ग अथवा नरक में जाता है अर्थात् स्वेच्छा से कुछ नहीं कर सकता अथवा नहीं तो सभी सुख ही चाहेंगे, दुःख कोई भी नहीं। दूसरे, स्वभाववादी कहते हैं– "इन हंसों को श्वेत किसने किया और मोरों को रंग-बिरंगा किसने बनाया ? अतः यह सब स्वभाव के कारण है, दूसरा कोई इसका कर्ता नहीं है।" इसके प्रत्युत्तर में सांख्याचार्य कहते हैं कि ईश्वर तो निर्गुण मानते हो, अतः उससे सत्त्वादि गुणों वाली सृष्टि कैसे उत्पन्न हो सकती है ? अतः ईश्वर कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार निर्गुण पुरुष (सांख्य सम्मत पुरुष अथवा वेदान्त मान्य निर्गुण ब्रह्म) से सगुण महदादि कार्यसमूह कैसे उत्पन्न होगा ?" अतः स्वभाव भी कारण नहीं हो सकता। परन्तु प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने से ये सब कुछ होना सम्भव है। जैसे श्वेत धागों से श्वेत ही कपड़ा बनता है और काले से काला ही। इसी प्रकार कोई काल (समय) को ही जगत् का कारण मानते हैं। जैसे– "काल ही प्राणियों को अवस्थान्तर में परिणत करता है, काल ही जगत् का संहार करता है, जब सब सो जाते हैं अर्थात् प्रलय काल में भी काल जागता रहता है। इसलिये काल अबाधित है।" सांख्यानुसार व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष– ये तीन पदार्थ हैं। काल भी इनमें ही अन्तर्भूत हो जाता है। क्योंकि सब का कारण होने से काल भी तो व्यक्त ही है। स्वभाव भी प्रकृति में ही निहित है। काल एवं स्वभाव भी ईश्वर की तरह ही जगत् कारण नहीं हो सकते– अतः प्रकृति ही कारण है, दूसरा

27. "यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत, विज्ञानाभावान्नास्ति" इति प्रमाणेन।
–न्या०द०, वा०भा०, पृ० 5

कोई नहीं हो सकता।[28] वाचस्पति मिश्र का तत्त्वकौमुदी में एवं कुछ दूसरे टीकाकारों का भी ऐसा ही मत है।[29]

(ग) ईश्वर के अस्तित्व को तो मानते हों, परन्तु उसके योगदान के परिप्रेक्ष्य में अर्थात् जगत् की रचना एवं कर्मफल-प्रदानादि कार्यों के लिये ईश्वर की सत्ता मानने के लिये कोई आवश्यकता नहीं समझते हुए उन्होंने इसका उल्लेख न किया हो। क्योंकि सामान्यत: ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना जाता है, परन्तु सांख्य मतानुसार सृष्टि विषयक कार्य प्रकृति से ही सम्पन्न होता है। इसके समर्थन में सांख्यसूत्रों को उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि ईश्वर को पञ्चावयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) वाक्यों की सहायता से सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[30] ईश्वर को प्रत्यक्ष में न देखने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाणाभाव से उसकी असिद्धि नहीं की जा सकती।[31] इसी प्रकार लिंग-लिंगी आदि सम्बन्ध के अभाव से अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि न होने से उसका निषेध नहीं किया जा सकता।[32] क्योंकि ईश्वर तार्किक-युक्तियों का विषय नहीं है। अत: सांख्य सूत्रों में भी केवल प्रमाणों के आधार पर उसकी असिद्धि मानते हुये- परमार्थत: उसकी सत्ता मानी गई है।

विज्ञानभिक्षु एवं अन्य ने भी ईश्वर के अस्तित्व को योग-सम्मत ईश्वर[33] के समान स्वीकार किया है अर्थात् ईश्वर एक विशेष पुरुष है। सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता है,[34]

28. केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते - "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा।।" अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते- "केन शुक्लीकृताः हंसाः, मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव।।" "अत्र सांख्याचार्या आहु - निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्। कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव ? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते।" तथा केषाञ्चित् कालःकारणमिति। उक्तं च- "कालःपचति भूतानि, कालः संहरते जगत्। कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।।" व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति। ... । स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः। तस्मात् कालो न कारणम्। नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति।" -सां०का०गौ०,भा०, पृ० 101, का० 61

29. द्रष्टव्य -त०कौ०, 56, 57; सां०सू और भाष्य - 1/92-95; 3/56-57, 5-2-12

30. "ईश्वरासिद्धेः।" -सां०सू०, 1/93

31. "प्रमाणाभावान्न तदसिद्धिः।" -सां०सू०, 5/10

32. "सम्बन्धाभावान्नानुमानम्।" -तदेव, 5/11

33. "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।" -यो०सू० 1/24

34. "स हि सर्ववित् सर्वकर्ता।" -सां०प्र०सू०, 3/58

क्लेश-कर्मादि से रहित है। ईश्वरकृष्ण की तरह ही विज्ञानभिक्षु ने भी सृष्टि कार्य में प्रधानता प्रकृति की ही स्वीकार की है, प्रत्युत् ईश्वर को साम्य-परिणाम आदि रूप समस्त आवरण भंग करने द्वारा उद्बोधक माना है।[35]

(घ) सांख्यकारिका में (एवं समस्त सांख्य दर्शन में भी) पुरुष के बन्धन का कारण प्रकृति और पुरुष के तादात्म्य सम्बन्ध को माना गया है। उसके सत्त्व, रज और तम गुण के कारण होने वाले सुख-दुःख एवं मोहादि को वह अपना समझकर कष्ट पाता एवं संसरण करता है। अतः सांख्यकारिका (सांख्य मत) का लक्ष्य इस बन्धन की जड़ को दूर करने के लिये प्रकृति का कर्तृत्व दिखाकर एवं पुरुष का अकर्तृत्व समझाकर उनमें पार्थक्य ज्ञान (विवेक ख्याति) कराना है। गीता में भी श्रीकृष्ण प्रकृति का कर्तृत्व एवं पुरुष का अकर्तृत्व जानने वाले को यथार्थ द्रष्टा (ब्रह्मज्ञानी) अभिव्यक्त करते हैं।[36]

अतः इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यदि ईश्वरकृष्ण को गीता के इस ज्ञान से प्रभावित मान लिया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति का सर्वकारणवाद निरूपित करने और पुरुष के अकर्तृत्व को दिखाने सहित ईश्वर की सत्ता का निरूपण उन्होंने क्यों नहीं किया ? अर्थात् सामान्यजन को भी ज्ञान सुलभ कराने के लिये उनका मुख्य उद्देश्य प्रकृति-पुरुष विवेक ही था, ईश्वर का अस्तित्व-नास्तित्व विवेचन नहीं।

(ङ) दूसरे, कपिलादि को ईश्वरवादी माना जाता है और ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका की अन्तिम कारिकाओं में स्पष्टतया स्वीकार करते हैं कि वह उन्हीं के मत का पुरुष के ज्ञानार्थ अनुसरण कर रहे हैं[37]—अतः इन्हें भी ईश्वरवादी ही होना चाहिये। यह बात नहीं कही जा सकती कि ईश्वरवादी होने पर इन्होंने प्रकृति के मुख्यत्व की अपेक्षा ईश्वर (अथवा ब्रह्म) का मुख्यत्व क्यों नहीं दिखाया। क्योंकि गीता[38] एवं शांकरभाष्य[39] में भी प्रकृति का ब्रह्मत्व माना ही

35. (क) "ईश्वरस्तु साम्यपरिणामादिरूपाखिलावरणभंगेन उद्बोधकः।" –यो०वा०
(ख) "स भगवान् ईश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधि सम्बोधयति।" –भो०वृ०, 2/45
(ग) "ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थे प्रतिबन्धापनय एव व्यापारः।" –त०वै०

36. "प्रकृत्यैव हि कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।" –भ०गी०, 13/29

37. "पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा (कपिलेन) समाख्यातम् ..... शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन ..... सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्।" –सां०का० 69 तः 72

38. "मम योनिर्महद्ब्रह्म।" –भ०गी०, 14/3 एवं "तासां ब्रह्म महद्योनिः।" –तदेव, 14/4

39. "प्रकृतिर्ब्रह्म।" –ब्र०सू०, शां०भा०, 1-4-27

गया है, तो क्या वे ईश्वरवादी नहीं ? अतः अनपेक्षा से वर्णन नहीं किया प्रतीत होता है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा एवं सांख्यकारिका में संकलित उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन की परमसत्ता विषयक मान्यता पूर्णाद्वैत की सत्य एवं दृढ़ शिक्षा पर आधारित है। वह तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक है। परन्तु सांख्य दर्शन की ईश्वर विषयक मान्यता संदिग्ध है। यदि मान भी लिया जाये कि सांख्य में भी ईश्वर को माना गया है, तो भी वह गौणरूप ही होगा, क्योंकि स्पष्टतया प्रधानता प्रकृति की सुव्यक्त की गई है और वह द्वैतमूलक ही होगा। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन की परमसत्ता विषयक विचारधारा युक्तिसंगत प्रतीत होती है, क्योंकि यह अद्वैतमूलक है और द्वैत अथवा द्वैताद्वैत की अपेक्षा अद्वैत को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

जगत् एवं तत्-कारण

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में परमसत्ता प्रकाश और विमर्श अथवा शिव और शक्ति रूप मानी गई है। उसके विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दो पहलू माने गये हैं। विश्वोत्तीर्ण रूप में समस्त प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयरूप अथवा नीलसुखादि संवेदनरूप अथवा शिवादि धरण्यन्तरूप जगत् उसमें प्रकाशैकभाव (तादात्म्यरूप) से विद्यमान रहता है और विश्वमय रूप में उसकी विमर्शरूप स्वातन्त्र्य शक्ति ही नाना रूपों में अभिव्यक्त हो जाती है। परमेश्वरता दोनों रूपों में अच्युत ही रहती है।[40] अतः परमार्थतः परमसत्ता और जगत् में कोई भेद नहीं है। जगत् भी सत्य है, क्योंकि उसकी स्वरूपभूत सच्छक्तियों का ही वह विकासरूपमात्र है।[41] परमसत्ता सर्वशक्तिमान् चैतन्यसत्ता है, अतः वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सतत सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह रूप पञ्चकृत्यों के करने से जगत्-लीला सम्पादनहेतु पूर्णतया समर्थ है। जगत् का उसी से उदय, स्थिति एवं संहार होता है। अतः वह एक परमार्थसत्-पदार्थ है। समुद्र की तरंग, बुद्बुद, झागादि में एक जलत्व अथवा समुद्रत्त्व की भाँति सर्वत्र सर्वदा शिवता ही अवस्थित है। अतः परमसत्ता ही जगत्रूप भी है और तत्-कारण भी है।[42]

---

40. "सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः। शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः।।"
 –ई०प्र०का०, 4/14

41. (क) "प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्धयति।" –ई०प्र०का०, 1/34
 (ख) "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।" –शि०सू०, 3/30, "शक्त्योऽस्य जगत्कृत्स्नम्।"
 –आम्नाय

42. "इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना। तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया।।"
 –तदेव, 2/53

सांख्यकारिका अनुसार दो मूल तत्त्व – प्रकृति और पुरुष – माने गये हैं। दोनों एक – दूसरे से स्वतन्त्र हैं। दोनों में से कोई भी एक – दूसरे का कारण नहीं है। पुरुष चेतन तो है, परन्तु निष्क्रिय (शक्तिहीन) है और प्रकृति जड़रूपा है,[43] तथापि त्रिगुणात्मिका होने से सतत परिणामशीला है, अतएव कैसे भी, उसमें एक प्रकार से सक्रियत्व माना ही गया है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति में चैतन्यता – सी आ जाती है[44] और उसकी साम्यावस्था में गुण – विक्षोभ होने से महदादि स्थूलभूत पर्यन्त सूक्ष्म – स्थूल तत्त्वों, प्रमेयों, शरीरों एवं भुवनों आदि के रूप में जगत् का विकास होता है। व्युत्क्रम से (प्रलय दशा में) पुनः प्रकृति में ही विलीन हो जाते हैं। पुरुष निर्लेप होते हुये भी प्रकृति संसर्ग से बद्ध एवं वियोग से मुक्त हो जाता है। जगत् विकास के पर्दे के पीछे प्रकृति का पुरुष के कैवल्य के लिये और पुरुष का प्रकृति के दर्शन के लिये लूले और अन्धे की भाँति परस्पर संयोग होता है, जिससे सृष्टि होती है।[45] अतः न्यूनाधिक रूप में प्रकृति ही जगत् का रूप धारण करती है और वह ही उसकी कारण भी है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में प्रदर्शित जगत् एवं उसका कारण परमसत्ता एक का ही होना निश्चित् सत्य पर आधारित विज्ञान प्रतीत होता है, क्योंकि आज का विज्ञान भी अन्ततोगत्वा एक "Universal Force" (सार्वभौम शक्ति) से जगत् – विकास क्रम को मानने लगा है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की जगत् कारण परमसत्ता स्पष्टतया एक सार्वभौम चैतन्य शक्ति ही तो है। परन्तु सांख्यकारिका में अभिव्यक्त जगत् एवं उसका कारण प्रकृति – तर्क संगत नहीं लगता है, क्योंकि यह विविध भ्रान्तियों एवं आशंकाओं को जन्म देता है :–

1. **प्रकृति और पुरुष का संयोग क्यों और किस लिये होता है ?**

   सांख्याचार्य (विशेषकर ईश्वरकृष्ण) कह सकते हैं कि प्रकृति का पुरुष के कैवल्य के लिये और पुरुष का प्रकृति के दर्शन के लिये संयोग होता है।[46] परन्तु यहाँ प्रष्टव्य है कि जगत् विकास – क्रम के पूर्व पुरुष तो केवलरूप ही होता है, अतः संयोग के माध्यम से प्रकृति उसका कौन – सा कैवल्य करने जा रही होती है ? दूसरे, प्रकृति अपनी मूलावस्था में अव्यक्तरूपा ही होती है, अतः पुरुष उसके कौन से भोग

43. द्रष्टव्य – सां०का०, 10, 11
44. द्रष्टव्य – सां०का०, 20
45. द्रष्टव्य – सां०का०, 21
46. "पुरुषस्य दर्शनार्थं, कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।" – सां०का० 21

उसके कौन से भोग के दर्शन के लिये संयोग करेगा ? अथवा यदि ऐसा माना जाये कि प्रकृति महदादि स्थूलभूतपर्यन्त अपना दर्शन कराकर पुरुष को मुक्ति दिलानी चाहती है और पुरुष के कैवल्य से स्वयं निवृत्त होना चाहती है[47]– तो बात वही रहती है अर्थात् आरम्भ में तो दोनों का संयोग तभी माना जायेगा, यदि वे परस्पर पृथक्-पृथक् अवस्थित हैं, अन्यथा संयोग कैसा ? और जब वे पृथक्-पृथक् हैं ही, तो भोग-निवृत्ति अथवा कैवल्य-प्राप्ति कैसी ? क्योंकि पुरुष का प्रकृति से पृथक् होना ही उसका कैवल्य माना गया है।

2. जब प्रत्येक जड़ पदार्थ की क्रिया चेतनसत्ता के अधीन ही देखी जाती है, तो जड़रूपा प्रकृति की पुरुष विमोक्षार्थ क्रिया स्वतन्त्र कैसे मानी जा सकती है ?

सांख्याचार्य (विशेषकर ईश्वरकृष्ण) कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावानुसार प्रवृत्त होती है। यथा– जड़ दूध गो के स्तनों से उसके बछड़े के पालन-पोषणार्थ स्वयं स्वाभाविक रूप से निःसृत होता है। अतः प्रकृति भी अपने स्वभावानुसार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है।[48] परन्तु यह दृष्टान्त उचित नहीं है, क्योंकि जड़-दूध के निःसरण के पीछे चेतन प्राणी गो की निज वत्स विवृद्ध्यर्थ इच्छारूपा एवं बछड़े की चोषण क्रिया विद्यमान रहती है। अतः जड़ प्रकृति की क्रिया सर्वथा अनुचित ठहरती है।

3. जब प्रकृति साम्यावस्था में होती है, तो उसमें गुणों का विक्षोभ कैसे होता है, जिसके होने पर ही जगत्-विकास क्रम का आरम्भ माना जाता है ? क्योंकि सत्त्वादि गुण जड़ होते हैं, अतः अपनी क्रियाशीलता के लिये किसी बाह्य-प्रयत्न पर ही अवलम्बित माने जा सकते हैं, जो निःसंदिग्धरूप से चेतन का ही हो सकता है। इस पर सांख्याचार्य कह सकते हैं कि जिस प्रकार चुम्बक के सामीप्य से जड़ लोहकणों में क्रियाशीलता देखी जाती है, उसी प्रकार पुरुष के सान्निध्यमात्र से प्रकृति के गुणों में क्रियाशीलता आ जाती है। परन्तु द्रष्टव्य यह है कि

---

47. "इत्येष प्रकृतिकृतौ महदादिविशेषभूतपर्यन्तः। प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।।"
–सां०का०, 56

48. "वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।।"
–तदेव, 57

पुरुष का संयोग किस लिये होता है ? दूसरे, यदि पुरुष के सामीप्य-बल से ही गुण-विक्षोभ होता है, तो कारणता प्रकृति की क्यों मानी जाती है ?

4. ब्रह्मसूत्र में भी जड़ प्रकृति सहित शेष (बौद्ध, न्यायादि) दर्शनों के सृष्टिकरण का खण्डन किया गया है।[49]

5. सांख्य में प्रकृति एक मानी गई है और पुरुष अनेक। तब सांख्याचार्यों से यह प्रष्टव्य है कि जगत् विकास क्रम के प्रारम्भ में प्रकृति का संयोग एक पुरुष से होता है अथवा अनेक पुरुषों से ? यदि एक पुरुष से माने, तो संबद्धता भी एक ही पुरुष से माननी पड़ेगी और इस प्रकार एक ही पुरुष बद्ध होगा– तब संसार में अनेक बद्ध-जीवों के सम्बन्ध में उनका क्या कहना है ? यदि प्रकृति का अनेक पुरुषों से सम्पर्क होता है, तो क्या सभी बद्ध हो जाते हैं अथवा कुछ ? "कुछ" कहने में असमानता दोष आयेगा। सभी "बद्ध" मानने से सभी की मुक्ति भी एक साथ ही होनी चाहिये, क्योंकि प्रकृति एक ही है और जब संबद्धता साथ-साथ है, तो असंबद्धता में भेद क्यों माना जाये ? परन्तु जगत् में पुरुषों में विभिन्नता प्रत्यक्षतः देखी जाती हैं।

प्रत्यभिज्ञा और सांख्य के पुरुष एवं प्रकृति में अन्तर

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में प्रकृति कला का वेद्यरूप है[50] है और सार्वभौम "इदं" का सीमित रूप मानी गई है। वह भी सांख्य की प्रकृति की तरह ही सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था होती है, त्रिगुणात्मिका है, परन्तु वह एक नहीं, अनेक रूप है।[51] इसके जड़ होने पर भी गुण-विक्षोभ की क्रिया स्वतन्त्रेश (तत्त्वेश) द्वारा की जाती है, जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप से महासत्ता (सार्वभौम चैतन्य) की जगत्-लीला (स्वातन्त्र्य विलास) से प्रेरित होती है।[52] इसी प्रकार पुरुष भी सार्वभौम चैतन्य के पूर्णाहं का सीमिताहं रूपमात्र होता है। पुरुष यद्यपि अनेक माने गये हैं, परन्तु केवल परमसत्ता की स्वेच्छा से मायाशक्ति द्वारा अवगृहीत संकोच (भेद) के कारण अर्थात

49. "एतेन सर्वे व्याख्याताः।" –ब्र०सू०, 1/4/28
50. "वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं (प्रकृतिं) सूयते कला।" –तं०आ०, आह०, 9/214
51. "तच्च भिन्नं प्रतिपुंनियतत्वादनेकमिति यावत्।" –तं०आ०वि०, भा० 6, पृ० 171, 172
52. "ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति। भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेत् भृशम्।" –तं०आ०, भा० 6, 9/225

चैतन्यांश से तो पुरुष परमसत्ता रूप ही होते हैं, केवल अनात्म शरीरादि के मायावश अभिमान से अनेकरूप में भासित होते हैं। अतः अनेकत्व केवल अज्ञान के कारण से परिलक्षित होता है, परिज्ञान की दशा में पूर्णाभेदरूप एक परमसत्ता ही प्रकाशित होती है।[53] वह स्वतन्त्रकर्ता है।[54]

परन्तु सांख्यकारिका में प्रकृति और पुरुष स्वतन्त्र अस्तित्व माने गये हैं और वे किसी के सीमित अनुभव नहीं। प्रकृति एक है, त्रिगुणात्मिका और जड़ है[55] और पुरुष चेतन रूप है, अनेक हैं और क्रियाहीन है एवं अकर्ता है।[56] इसका कर्तृत्व प्रकृति के गुणों में अज्ञान से अभिमान के कारण है।[57]

अतः स्पष्ट है कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और सांख्यकारिका की प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी मान्यताओं में मौलिक अन्तर है। प्रत्यभिज्ञा में परमसत्ता के सीमित "अहं-इदं" रूप ही पुरुष – प्रकृति हैं और असीमित दशा में शिव-शक्तिरूप। उसकी स्वतन्त्र ज्ञान, क्रिया और माया शक्तियाँ ही पुरुष दशा में सत्त्व, रज और तम गुण का रूप धारण करती है।[58] जबकि सांख्य की प्रकृति के गुण किसी चित् तत्त्व का संकोच न होकर जड़ पदार्थ के गुण हैं। सांख्य मत में एक अतिविचारणीय तथ्य यह भी है कि एक ओर तो पुरुष को चेतन मानते हैं और दूसरी ओर उसे क्रिया रहित कहते हैं। एक क्रियाहीन चैतन्य कैसे हो सकता है एवं जड़ प्रकृति द्वारा उसके जन्म-मरण का नियमन कैसे सम्भव है ?[59] प्रत्यभिज्ञा दर्शन में चेतन को सर्व-ज्ञान एवं क्रिया में स्वतन्त्र अभिव्यक्त किया गया है।[60] अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन की युक्तियुक्तता एवं अद्वैतता निर्बाधसिद्ध है, जबकि सांख्य में यह कमी है।

---

53. "स्वस्वरूपापरिज्ञानमयोऽनेकः पुमान्यतः।" –ई०प्र०का०, 4/3
54. स्वतन्त्रशब्दो ..... चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते।" –प्र०ह०, पृ० 47, 48 एव "स्वतन्त्रः कर्ता।" –सि०कौ०, 1/4/54
55. द्रष्टव्य– सां०का०, 10, 11
56. द्रष्टव्य– सां०का०, 17, 18, 19
57. द्रष्टव्य– सां०का०, 20
58. "स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या। मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।।" –ई०प्र०का०, 4/4
59. द्रष्टव्य– स्वामी लक्ष्मण का लेख– "डिसेग्रीमेन्ट आफ कश्मीर शैविज्म विद सांख्य एण्ड वेदान्त।"
60. "चेतयते इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः।" –शि०सू०वि०, 1/1

तत्त्व विचार

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में छत्तीस तत्त्वों की मान्यता है, जिनमें पृथिवी से लेकर पुरुष तत्त्व पर्यन्त तो सांख्य-सम्मत ही हैं– यद्यपि कुछ तत्त्वों की स्वरूप धारणा में (यथा-प्रकृति-पुरुष) न्यूनाधिक रूप में मतभेद है। सांख्य की पच्चीस तत्त्वों की खोज दर्शन जगत् एवं वैज्ञानिक जगत् में भी एक अतीव सराहनीय देन है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन इस विषय में और अधिक अन्वेषण के लिये अद्वितीय स्थान रखता है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति संज्ञक ग्यारह अधिक तत्त्वों का अस्तित्व मानना– किसी कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है। इसके पीछे वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक विशेषकर) तथ्यों सहित गम्भीर अनुभव, चिन्तन, योग-साधनादि का बल तथा आगमिक प्रमाण भी विद्यमान है। शिव और शक्ति तो नित्य एवं अभिन्न तत्त्व हैं, जो चित् एवं आनन्दरूप है। सदाशिव इच्छारूप और ईश्वर ज्ञानरूप है। विद्या क्रिया रूप है। साररूप में यही चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया परमसत्ता के पञ्चवक्त्र एवं पुराणों आदि में पञ्च परमेश्वर (ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, अघोर और वामदेव) कहे जाते हैं। ये पञ्च शक्तियों की अभिव्यक्ति न केवल परमसत्ता में ही, प्रत्युत् सामान्य प्राणियों में भी देखी जाती है। यथा एक कुम्हार को अपने अस्तित्व (चित्) का ज्ञान होता ही है। वह उल्लास (आनन्द) में आन्दोलित होकर कुछ बनाने की इच्छा करता है (इच्छा)। सोचता है मिट्टी का अमुक भाँति का घड़ा बनाऊँ (ज्ञान) और फिर तद्धेतु प्रयत्न करता है (क्रिया) और बन जाने पर खुश भी होता है (आनन्द)। इसी प्रकार सभी प्राणियों के विषय में इन पाँच शक्तियों एवं तत्त्वों की सत्ता का पाया जाना तर्कसंगत वैज्ञानिक सत्य है। यह भी सत्य है कि यह एक ही परमसत्ता (चित्+आनन्द) का ही विविध रूप होते हुये भी एकरूप ही हैं अथवा क्रम-अक्रम से विकास हैं। परन्तु परमेश्वर की मायाशक्ति से इनमें भेद प्रतीत होने से इच्छाशक्ति संकुचित होकर आणव मल, ज्ञान शक्ति सीमित होकर मायीय मल और क्रिया शक्ति अवच्छिन्न होकर कार्म मल का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार क्रिया शक्ति के सर्वकर्तृत्व में संकोच होकर कला, ज्ञानशक्ति के सर्वज्ञत्व में संकोच होने से विद्या, पूर्णत्व में संकोच से राग, नित्यत्व में संकोच से काल और विभुत्व में संकोच होने से नियति तत्त्वों का विकास होता है। यह माया और कला-विद्या-राग-काल- नियमितरूप षट्-कञ्चुकों एवं आणव-मायीय और कार्म-त्रिविध मलों से चित्तत्त्व (परमसत्ता) म्लानित-सी (स्वरूप से तिरोहित-सी, संकुचित-सी) होकर सार्वभौम "अहं-इदं" रूप से सीमित "अहं-इदं" रूप

पुरुष-प्रकृति तत्त्वों द्वारा अभिव्यक्त हो जाती है। और यहाँ से पुनः पृथिवीपर्यन्त स्थूलतम आभासरूप में विकसित होती है। प्रत्यभिज्ञान दशा में पुनः परमसत्ता रूप से स्थित हो जाती है। परन्तु इस अवरोहण अथवा आरोहण लीला में परमसत्ता अक्षर रूप ही रहती है।[61] अतः सांख्य दर्शन की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा दर्शन की धारणा नितान्त युक्तिसंगत है।

बद्ध और मुक्त की स्थिति

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा अनुसार तो बन्धन मात्र स्वस्वरूप की अनभिज्ञता है और मुक्ति तत्प्रत्यभिज्ञान। अतः बद्धत्व एवं मुक्तत्व केवल अज्ञान एवं ज्ञान पर निर्भर करते हैं-- वास्तव में वे स्वयं में कुछ नहीं।[62] जैसे एक सिंह शावक भेड़ों की संगति से अपने को भी भेड़ ही समझकर उनकी भाँति कुत्ते-बिल्ली से भी भय माने और किसी सिंह द्वारा नदी आदि में अपना प्रतिबिम्ब उसके समान देखकर, अतएव अपने को बलशाली समझकर दूसरों को आतंकित करने लगे-- तो इन दशाओं में उसकी भीरुता एवं वीरता मात्र अपने स्वरूप के अज्ञान और ज्ञान के कारण ही प्रतीत होती है, जबकि वह वही प्राणी होता है। इसी प्रकार परमेश्वर का अपने स्वरूप में मायाशक्ति द्वारा संकोच उसे परिमित-सा बना देता है और विद्याशक्ति द्वारा प्रत्यभिज्ञान पुनः उसे महेश्वरत्व में आरूढ़ कर देता है-- जबकि परमार्थतः सभी अवस्थाओं एवं रूपों में एक महेश्वर ही स्फुरित होता है।[63] बद्धता एवं मुक्तता भी उसकी स्वातन्त्र्य लीला के विलासमात्र हैं। माया शक्ति उसकी अपनी शक्ति है, जिसके माध्यम से संकोच (भेद, नानात्व) का आभासन होता है। इस संकोच के अपसारित होने से पुनः अद्वैत तत्त्व प्रकाशित होने लगता है। इस प्रकार एकत्व में ही अनेकत्व प्रतीत होता है और अनेकत्व का पुनः पर्यवसान एकत्व में ही होता है। एकत्व की च्युति कदापि नहीं होती है-- इसीलिये व्यावहारिक जगत् में शिवभाव बना ही रहता है। यह ठीक है कि उस दशा में उसका स्वरूप अथवा सामर्थ्य पूर्ण विशुद्ध रूप में

---

61. "अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता .... आणवं मलम्, ज्ञानशक्तिः .... मायीयमलम्, क्रियाशक्तिः .... कार्मं मलम्। तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्त्यः संकोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति .... स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।" –प्र०हृ०, पृ० 65, 66
62. "स्वस्वरूपापरिज्ञानयो .... पुमान्मतः।" –ई०प्र०का०, 4/3, एवं "एष प्रमाता मायान्धः
"स्वस्वरूपापरिज्ञानयो" line continues: –तदेव, 3/13
संसारी कर्मबन्धनः। विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते।"
63. "तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका। विद्याशक्तिस्तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः।।" –तदेव, 3/7

भासित नहीं होता। आंशिकरूप में प्रकाशन का कारण अज्ञान-आवरण होना है। जैसे सूर्य के सामने मेघखण्ड के आने से उसका प्रकाश आच्छादित-सा हो जाताहै, परन्तु वायु द्वारा मेघखण्ड छिन्न-भिन्न होने से पुनः विशुद्ध प्रकाश चमकने लगता है। इसी प्रकार शक्ति प्रत्यभिज्ञान द्वारा मोहावरण दूर हो जाता है और पूर्ण शिव-स्वरूप स्फुरित होने लगता है। सूर्य, मेघ और वायु तो तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, परन्तु यहाँ शिव ही एक परमार्थ हैं- ज्ञान तो उसके स्वरूप अथवा शक्तियों का असंकुचित प्रकाशन है और अज्ञान संकुचित रूप में प्रकाशन। दोनों प्रकार के प्रकाशनों के मूल में उनकी स्वतन्त्र इच्छा ही प्रेरणा-स्रोत रहती है। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन में बद्ध अथवा मुक्त दशा किसी बाह्य आवरण अथवा अनावरण के कारण नहीं-- प्रत्युत् अपने ही स्वरूप का संकोच अथवा विकास है।

सांख्यकारिका के अनुसार तो बन्धन प्रकृति के साथ पुरुष के संसर्ग के कारण है और मुक्ति (कैवल्य) उससे पार्थक्य में। अतः बद्धत्त्व एवं मुक्तत्व केवल संसर्ग एवं विवेक पर अवलम्बित हैं। पुरुष अनादि अज्ञान के कारण जड़ प्रकृति के संसर्ग में आता है। वह पुरुष के सामीप्य से चेतन-सी प्रतीत होती है। पुरुष भी उसके गुणों के कर्तृत्व को अपना कर्तृत्व मान लेता है। जबकि वह स्वभावतः निर्गुण, निर्लेप, साक्षी, अप्रसवशील और अकर्ता होता है। इसी अज्ञान के कारण वह प्रकृति के भोगों का भोक्ता हो जाता है और तज्जन्य सुख-दुःखों एवं शुभ-अशुभ कर्मों तथा उनके संस्कारों के प्रभाव से संसरण करता हुआ बद्ध बन जाता है। संसरण भी वास्तव में प्रकृति (सूक्ष्म शरीर- चूँकि यह प्रकृति का ही विकार है) का ही होता है-- परन्तु पुरुष उससे तादात्म्य के कारण अपना मान लेता है और इसलिये जब तक उससे छुटकारा नहीं होता- वह दुःखों को स्वाभाविक रूप से भोगता ही है। परन्तु "विवेक-ख्याति" की प्राप्ति से बुद्धि पुरुष को प्रकृति और पुरुष का सूक्ष्म अन्तर प्रकट कर देती है, जिससे वह अपने को प्रकृति से भिन्न समझकर "केवल" (मुक्त) हो जाता है। और प्रकृति को अपने स्वरूप में स्थित हुआ प्रेक्षक की भाँति ही देखता है, अतः सृष्टि-चक्र एवं तज्जन्य दुःखों से आत्यन्तिक (सदा के लिये) और ऐकान्तिक (पूर्ण रूपेण) रूप से शान्ति प्राप्त कर लेता है। प्रकृति भी अपने को उससे पृथक् करके पुनः उसके लिये सृष्टि नहीं करती है और इस प्रकार पुरुष उसके बन्धन में नहीं पड़ता।

अब जहाँ तक प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सम्बन्ध है– ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में प्रतिपादित उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में बद्धत्व एवं मुक्तत्व– दोनों व्यावहारिक हैं और तर्कसंगत भी हैं। एक सामान्य संसारी में स्वरूप एवं शक्तियों का आच्छन्न (सीमित) रूप दृष्टिगोचर होना ही है, परन्तु अभ्यास, तप, योग अथवा प्रत्यभिज्ञान के बल पर वही संसारी अथवा योगी में स्वरूप एवं शक्तियों का अबाधित सामर्थ्य परिलक्षित होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन का बद्धभाव एवं मुक्तभाव केवल अज्ञान एवं ज्ञान अथवा स्वरूप- शक्तियों के संकोच एवं विकास के कारण है। पारमार्थिक सत्य तो माहेश्वर्य ही है।[64]

परन्तु सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में– सांख्यकारिका में निरूपित उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में बद्धत्व एवं मुक्तत्व प्रकृति के साथ पुरुष के संसर्ग एवं वियोग (विवेक) पर निर्भर है। परन्तु यह संयोग एवं वियोग व्यावहारिक एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। अतएव सांख्य की बद्धत्व एवं मुक्तत्व की मान्यता दोषपूर्ण प्रतीत होती है। इसकी पुष्टि के लिये निम्नलिखित आशंकायें प्रस्तुत हैं :–

यहाँ द्रष्टव्य है कि क्या "पुरुष" मुक्तावस्था में "त्रिगुणात्मिका प्रकृति" के संसर्ग से पूर्णतया छुटकारा प्राप्त कर लेता है ? क्योंकि :–

1. मुक्त दशा में निरपेक्ष होकर पुरुष प्रकृति का अवलोकन करता है।[65] यह "दर्शन" की प्रक्रिया तो सत्त्वगुण का कार्य है। अतः मानना ही पड़ेगा कि मुक्ति की दशा में भी पुरुष का सत्त्वगुण से सम्बन्ध रहता ही है– भले ही वह कितनी भी न्यून मात्रा में क्यों न हो,[66] अन्यथा वह देख नही सकता (क्योंकि बुद्धि का कार्य है– विषय का प्रकाशन और वह सत्त्वप्रधाना मानी गई है। दूसरे दर्शन क्रिया चक्षु इन्द्रिय का कार्य है और सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से ही उत्पन्न होती हैं तथा इस प्रकार प्रकृति का ही विकार है)। इस प्रकार यदि पुरुष का सत्त्वगुण से किञ्चित् भी सम्बन्ध है, तो फिर वह मुक्तावस्था में भी प्रकृति (सत्त्वरूपा बुद्धि) से सर्वथा पृथक्

---

64. (क) "शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षस्तदप्रतीतिस्तु बन्ध इति तावता प्रतीतिमात्रेण।" –शि०दृ०वृ०, पृ० 126
(ख) "शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।" –प्र०हृ०, पृ० 66
65. "प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः।" –सां०का०, 65
66. "सात्त्विक्या तु बुद्ध्या तदाप्यस्य मनाक् सभेदोऽस्त्येव।" –त०कौ०, 65

हो हीं नहीं सकता है। इस दशा में रजोगुण और तमोगुण का अभिभव तो अवश्य रहता है, परन्तु ये तीनों गुण सर्वथा पृथक् नहीं रहते– प्रत्युत मिथुनवृत्ति (मिलकर कार्य करने) वाले माने गये हैं।[67] अत: इस अवस्था में, यद्यपि रजस् और तमस् दबे-से रहते हैं, परन्तु इनके पुन: उदित होने की आशंका रह ही जाती है। तब दु:ख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति न होने से कैवल्य पद की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

2. दूसरी विचारणीय बात यह है कि सांख्य मत में किसी वस्तु का नाश नहीं माना जाता, केवल स्वरूप में परिवर्तन होता है। गीता में भी ऐसा ही कहा गया है।[68] अत: इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी अवस्था में "रजस्" का सर्वथा नाश नहीं हो सकता है। अतएव सांख्य दर्शन में दु:ख का पूर्णरूपेण निराकरण असम्भव प्रतीत होता है।[69] दु:ख का केवल अभिभव अवश्य हो जाता है।[70]

3. सांख्य मत में "विवेक ख्याति" (विवेक बुद्धि) को प्राप्त करना ही "मुक्ति" माना जाता है। यह ख्याति (बुद्धि) यदि उस दशा में रहती है, तो इसका अभिप्राय है– सत्त्वगुण की विद्यमानता और इसका अर्थ है प्रकृति की विद्यमानता। अत: मुक्तावस्था में भी पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध रहने के कारण उससे निवृत्ति कैसे होगी ? योग भाष्य एवं वार्त्तिक में भी विवेक ख्याति को सत्त्वगुणात्मिका ही बतलाया गया है और इसीलिये योगभाष्य,[71] योगवार्त्तिक[72] एवं तत्त्ववैशारदी में इसे चितिशक्ति के विपरीत होने के कारण हेय मानते हुये निरुद्ध करने के लिये कहा है।[73]

---

67. "प्रीत्यप्रीति-विषादात्मका: प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्था:। अन्योऽन्याऽभिभवा-ऽऽश्रय-जनन-मिथुनवृत्तयश्च गुणा:।।" –सां०का०, 12
68. "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।" –भा०गी०, 2/16
69. "तदेतत्प्रत्यात्मवेदनीयं दु:खं रज: परिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्।" –त०कौ०, का० 1
70. "यद्यपि न सन्निरुध्यते दु:खं तथापि तदभिभव: शक्य: कर्तुम्।" –तदेव
71. "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि।" –पा०यो०द०, व्या०भा०, 1/2, पृ० 7
72. "इयं विवेकख्याति: धर्मधर्म्यभेदात् तद्वती वृत्ति: सत्त्वगुणात्मिका।" –यो०वा०, 1/2
73. "अतश्चितिशक्तेर्विपरीता — विवेकख्यातिरपि हेया।" –त०वै०, 1/2

अतः इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि सांख्यमत सम्मत मुक्त दशा में भी प्रकृति का सात्विक अंश रहता ही है। यद्यपि शरीर के न रहने पर पुनः दुःख की अभिव्यक्ति नहीं होती, तथापि दुःख का बीज रजस् गुण अभिभूत स्थिति में किसी न किसी रूप में रहता ही है। मुक्त दशा में भी पुरुष में विद्यमान यह सत्त्वगुण "शुद्ध सत्त्व" कहा जाता है। यही एक जीव का दूसरे जीव से मुक्ति में भेद करता है। इसी कारण मुक्ति में भी मुक्त जीवों की संख्या अनन्त होती है।

यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी स्वरूप अथवा शक्तियों के संकोच के क्षीणत्व के तारतम्य से मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शाक्त एवं शाम्भव (अकल) मुक्त प्रमाताओं अथवा मुक्तशिव, शिव, रुद्र और भैरव आदि की स्थिति प्राप्त होती है, परन्तु पूर्ण मुक्ति पूर्ण माहेश्वर्य की स्थिति में ही मानी गई है।[74] उस परमसत्ता से पूर्णाभेद की स्थिति में समस्त जगत् अपनी शक्तियों का ही विकास दिखाई देता है।[75] जगदानन्द की अनुभूति होती है, जबकि सांख्य की मुक्ति में आनन्द का लेश भी नहीं माना जाता। अतः जड़तुल्य सांख्य की मुक्ति से क्या लाभ ?[76] प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मुक्त ही वास्तव में प्राणीमात्र का परम ध्येय है, क्योंकि सभी सुख ही चाहते हैं। तभी उपनिषद् कहती है कि वह परमब्रह्म आनन्दरूप है और उसकी प्राप्ति से प्राणी आनन्दरूप ही हो जाता है।[77]

कृतियों में प्रतिपादित सिद्धान्तों की प्रामाणिकता

किरण संहिता में कहा गया है कि किसी कृति, ज्ञान अथवा सिद्धान्त की प्रामाणिकता तभी मानी जाती है कि यदि वह अपने निश्चित् अनुभव द्वारा प्रस्तुत हो, गुरुजनों द्वारा अनुमोदित हो एवं शास्त्रों (आप्त ग्रन्थों) द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल हो।[78] ईश्वर प्रत्यभिज्ञा का ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार और तत्त्वार्थसंग्रहाधिकार स्पष्टतया उत्पलदेव के तप - ज्ञान - विद्वत्ता

---

74. "तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन्सिद्धयति।"
 --ई०प्र०का०, 4/16
75. "स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।" --शि०सू०, 3/30
76. "सांख्यवेदादिसंसिद्धान् ...... न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी।।" --तं०आ०, 6/152
77. "रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।" --तै०उप०, 2/7
78. (क) "एवं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः एतद् दृढीकृतं भवति।" --ई०प्र०वि०, 1-4-16
 (ख) "किरणायां यदप्युक्तं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः। तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं पूर्वपूर्व उपायकः।।"
 --तं०आ०, 4/41

एवं अपने निश्चित् अनुभव पर आधारित प्रतीत होते हैं। आगमाधिकार निश्चित् रूप से आगमों (आप्त ग्रन्थों) पर अवलम्बित है। अपने इस सिद्धान्त के विषय में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह महागुरु सोमानन्द द्वारा शिवदृष्टि में निरूपित ज्ञानानुसार ही प्रकट किया गया है।[79] अतः ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में समर्थित ज्ञान (सिद्धान्त) उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में प्रामाणिक प्रतीत होता है। किसी भी सिद्धान्तादि की प्रामाणिकता जानना इसलिये आवश्यक होता है कि इससे उसके प्रति श्रद्धा, विश्वास, उत्साह, स्मृति और फलतः प्रज्ञा का विकास होता है, जिससे निश्चित् लाभ होता है, अन्यथा असमञ्जस, अश्रद्धा से तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती।[80] किसी भी व्यक्ति की किसी वस्तु के प्रति अधिक अभिरुचि बढ़ती है– यदि उसकी सत्यता का पहले ही आभास हो।

सांख्यकारिका में प्रतिपादित सिद्धान्त भी ईश्वरकृष्ण के स्वतः अनुभव पर आधारित प्रतीत होता है। इसके सिद्धान्तों का मूलस्रोत गीता, महाभारत एवं उपनिषदों आदि में सहजतया देखा जा सकता है (यह बात पृथक् है कि उनका अक्षरशः पालन है अथवा अंशतः, परन्तु प्रकृति, पुरुष, सत्त्व, रज, तम आदि निःसंदिग्धरूप में लगभग वैसे ही मिलते हैं। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त भी उपनिषदों में मिलता है)। ईश्वरकृष्ण स्पष्ट शब्दों में यह बात स्वीकार करते हैं कि उनका सांख्यकारिका में प्रतिपादित सिद्धान्त षष्टितन्त्र पर आधारित है और यह सिद्ध कपिल द्वारा जगत्-कल्याणार्थ प्रवर्तित आसुरि-पञ्चशिख की परम्परा से प्राप्त है।[81] अतः सांख्यकारिका में अभिव्यक्त सिद्धान्त की भी प्रामाणिकता प्रतीत होती है।

वास्तव में ज्ञान अनन्तरूप होता है और यह परमसत्ता का ही स्वरूप होता है। अतः किसी ज्ञान (अथवा सिद्धान्त) विशेष को ही इति-श्री नहीं माना जा सकता। चित्तभेद अर्थात् मानसिक स्तर के अनुकूल ही ज्ञान की उपलब्धि (बोध) एवं उसका लाभ होता है। इसीलिये आचार्य क्षेमराज ने सत्य ही कहा है कि सभी दर्शन उस परमलक्ष्य की प्राप्ति के विश्राम स्थल (पढ़ाव) हैं।[82] परमहंस श्री

---

79. "इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो। नवो महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।।" –ई०प्र०का०, 4/16
80. "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं ...... अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।" –भ०गी०, 4/39, 40
81. "एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरये ...... पञ्चशिखाय ...... ईश्वरकृष्णेन ...... सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्।। सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।" –सां०का०, 71-73
82. "तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः।" –प्र०हृ०, सू० 8

रामकृष्ण अनुसार भी-- जितने मत, उतने पथ- वाली बात उचित ही है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन अद्वैत स्तर एवं सांख्य दर्शन द्वैत स्तर के साधकों के लिये सर्वथा युक्त है। इन दोनों दर्शनों के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन से परमार्थ तत्त्व के ज्ञान में पर्याप्त सहायता मिल सकती है और द्वैत स्तर से अद्वैत स्तर में पहुँचने का मार्ग प्रशस्त होता है। अद्वैत तत्त्व ही परमार्थ तत्त्व होता है।[83] उपनिषद् भी द्वैत स्तर में ही संसरणादि भय की आशंका अभिव्यक्त करती है।[84]

कार्य-कारण नियम का पर्यालोचन (सत्कार्यवाद)

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में एक परम कारण अथवा परमार्थ सद्वस्तु परमसत्ता (परमेश्वर, परमशिव) को ही माना गया है और प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय रूप समस्त जगत्-प्रपञ्च का कार्य उसी की शक्तियों का विकासमात्र होता है। जिस प्रकार समुद्र के जल और उससे अभिव्यक्त विविध तरंग, बुद्बुद, फेनादि कार्य रूपों के व्यावहारिक नाम भेद होने पर भी एक जलत्व (समुद्रत्व) ही सत् होता है, इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन में एक मूल कारण परमसत्ता के अन्तः स्थित ही समस्त चराचर जगत्-प्रपञ्च तादात्म्यभाव (अभेदरूप) से विद्यमान होता है और उसकी स्वतन्त्र इच्छा से ही अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से व्यक्त (स्थूल) रूप में बाह्य स्थित हो जाता है[85] और पुनः संहार दशा में उनमें ही अर्थात् व्यक्त से अव्यक्त रूप में स्थित हो जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन अनुसार कार्यरूपी जगत् अपने कारण रूप में भी सत् ही होता है। तात्पर्य यह है कि कारण (परमसत्ता-विश्वोत्तीर्ण रूप) ही कार्य (जगत्-विश्वमयरूप) में परिणत हो जाता है और पुनः कार्य ही कारण रूप धारण कर लेता है। परन्तु इससे उसके परमार्थरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैसे समुद्र लहरों आदि में परिणत होकर भी समुद्ररूप से अच्युत ही रहता है। कारण से कार्य की लीला एवं पुनः व्युत्क्रम प्रक्रिया एक सार्वभौम चैतन्य (सर्वशक्तिमान्) की स्वतन्त्र इच्छा का विलासमात्र होने से इसको स्वातन्त्र्यवाद भी कहते हैं। जैसे एक योगी अपनी इच्छामात्र से बिना किसी बाह्य

---

83. "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।" -गौड़०आग०, 17

84. "द्वितीयाद्वै भयं भवति।" -बृहद्०उप०, 1/4/2

85. "वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्। अन्तः स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।।" -ई०प्र०का०, 1/32

साधन के विचित्र सृष्टि रचना सम्पन्न कर लेता है।[86] परात्रिंशिका में भी इसकी स्पष्ट पुष्टि मिलती है।[87]

सांख्यकारिका में भी ईश्वरकृष्ण ने सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया है और उसके लिये युक्तियाँ दी हैं।[88] अतः सांख्य दर्शन में भी कार्य को अपने कारण में सूक्ष्मरूप से अवस्थित माना गया है। यथा वृक्ष अपने बीज में सूक्ष्म रूप से पूर्ण विचित्रताओं के साथ विद्यमान होता है, तभी वह उससे प्रकट होता है– अन्यथा रेत-कणों से क्यों नहीं उत्पन्न होता है ? सम्पूर्ण जगत् (महदादि पृथिवीपर्यन्त) प्रकृति में अव्यक्त रूप से स्थित होता है और सृष्टि के समय व्यक्त हो जाता है। अतः प्रकृति को कारण और जगत् को कार्य माना गया है। कारण का स्थूल रूप ही कार्य और कार्य का सूक्ष्म रूप ही कारण माना गया है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में भी कार्य के कारण रूप में सत् होने से सत्कार्यवाद का सिद्धान्त माना गया है। सांख्य का कार्य-कारणवाद नियतिवादी (Deterministic) है, जैसे बीज से वृक्ष का उत्पन्न होना। अतः यह साधन सापेक्ष है।

परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन और सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद के सम्बन्ध में जहाँ कार्य का कारण रूप में अथवा कारण का कार्य रूप में सत् होना समानरूप से अभिमत है, वहीं इनमें कुछ मौलिक मतभेद भी हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में कारण (परमसत्ता) बिना किसी दूसरे की अपेक्षा से स्वेच्छा से कार्य (जगत्) रूप में परिणत होता है और पुनः उसे अपने में ही विलीन कर लेता है,[89] परन्तु सांख्य दर्शन में कारण (प्रकृति) कार्य (जगत्) रूप में परिणत होने के लिये अन्य (पुरुष) की अपेक्षा रखता है। उसके (पुरुष के) संसर्ग के बिना सृष्टि कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।[90] प्रत्यभिज्ञा दर्शन सांख्य के परिणामवाद पर भी आक्षेप करता है। सांख्य की जड़ प्रकृति का स्वतः परिणमित होना इन्हें स्वीकार्य नहीं। यथा जड़ बीज का

---

86. "चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः। योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।" –तदेव, 1/38
87. "यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।।" –परा०त्रिं०, 34
88. "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।" –सां०का०, 9
89. "चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः। योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।" –ई०प्र०का०, 1/38
90. "पुरुषस्य —— तथा प्रधानस्य —— संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।" –सां०का०, 21

वृक्ष रूप में परिणाम सांख्य में अभिमत है, परन्तु इनके (प्रत्याभिज्ञानुसार) अनुसार जड़ वस्तु की कभी भी स्वतः क्रिया नहीं होती। वह तो चेतन तत्त्व की ही होती है। अतः जड़ बीज के वृक्ष रूप में परिणत होने के पीछे भी चेतन का ही कार्य होता है।[91] दूसरे, प्रत्यभिज्ञा दर्शन का कारण (महेश्वर) प्रकाश और विमर्श रूप है। अतः एक ही परमार्थसत् के दो पहलू हैं, जो परस्पर अभिन्न हैं। एक अहं (प्रमाता) रूप और दूसरा इदं रूप (विश्वरूप) में अभिव्यक्त हो जाता है। इसलिये चेतन ही अपने परिच्छिन्न स्वरूप से जड़ रूप में आभासित-सा होता है। तात्त्विक रूप में एक ही परमसत्ता सत् है।[92] परन्तु सांख्य दर्शन का कारण (प्रकृति) पूर्णतया जड़रूप है और उसमें चैतन्य की प्रतीति पुरुष के संसर्ग से परिलक्षित होती है, जबकि वह (चैतन्य) इसका (प्रकृतिरूपी कारण का) स्वभाव नहीं है।[93] अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सत्कार्यवाद पूर्णाद्वैत सिद्धान्त पर स्थित है, जबकि सांख्य का द्वैत पर।

त्रिविध दुःख एवं उनका निवारण (चरम लक्ष्य प्राप्ति)

सांख्यकारिका के प्रारम्भ में ही जगत् के जीवों का त्रिविध तापों-दैहिक, दैविक, भौतिक दुःखों- से प्रताड़ित होना प्रदर्शित किया गया है। इन दुःखों के निराकरण के लिये लौकिक उपायों के साथ-साथ अलौकिक (आनुश्रविक) साधनों को भी उपयुक्त नहीं माना गया- क्योंकि इनके माध्यम से आत्यन्तिक और ऐकान्तिक शान्ति प्राप्त नहीं होती है। इन दुःखों का कारण प्रकृति एवं उसके विकारों (व्यक्त-महदादि पृथिवीपर्यन्त तत्त्वों) से पुरुष के संसर्ग (अनात्माभिमान, तादात्म्य) को माना गया है। इसीलिये बीमारी के नाश के लिये जैसे उसके कारण तत्त्वों का विनाश (उपचार) आवश्यक होता है- अन्यथा बाह्य उपचार से उसके पुनः होने का भय रहता है। इसी प्रकार सांख्य दर्शन में दुःखों के कारण संसर्ग को ही पृथक् करना अभीष्ट माना गया है। पुरुष को जब तक प्रकृति (अव्यक्त) एवं उसके विकारों (व्यक्त) का पार्थक्य बोध नहीं होगा, तब तक वह इनके संसर्ग में रहेगा ही। अतएव इस संसर्ग को दूर करने के लिये व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के विवेक को सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्त किया गया है।[94] यह कार्य विवेकख्याति से सम्पन्न होता

---

91. "जडस्य तु न सा शक्तिः।" -ई०प्र०का०, 2/34 एवं "अत एवाङ्कुरेऽपीष्टो निमित्तं परमेश्वरः।" -तदेव, 2/40
92. "स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः। विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः।। तत्र स्वसृष्टेदं भागे .... तत्।।" -तदेव, 4/1, 2
93. "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।" -सां०का०, 20

है अर्थात् जिस समय बुद्धि अत्यन्त सात्त्विक ज्ञानभाव में स्थिर होकर पुरुष को प्रकृति एवं व्यक्त का सूक्ष्म अन्तर प्रकाशित कर देती है[95], तो वह उससे उदासीन होकर अपने कैवल्यभाव में आरूढ़ हो जाता है, जिससे सदा के लिये एवं पूर्णरूपेण शान्ति की प्राप्ति हो जाती है।[96]

प्रत्यभिज्ञाकारिका में भी प्राणियों के दुःख, संसरणादि की स्थिति मानी गई है। परन्तु इसका कारण अपने पारमार्थिक स्वरूप से अनभिज्ञता– अपनी सामर्थ्य (शक्तियों) की पूर्ण जानकारी न होने को माना गया है। जीव तो स्वभावतः परमेश्वर ही है और उसकी चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियादि अबाधित स्वरूप शक्तियाँ हैं। वह सतत प्रकाशित, नित्य और अक्षर रूप है। परन्तु अपने को अपूर्ण मानने से, दूसरों से भिन्न मानने से एवं शुभाशुभ कर्मों के कर्तृत्व के संस्कारवश संसरण प्राप्त करने से क्रमशः आणव, मायीय और कार्म मलों से युक्त हो जाता है। उसकी असीमित कर्तृता, ज्ञातृता, पूर्णता, नित्यता और व्यापकता समन्वित शक्तियाँ सीमित कला, विद्या, राग काल और नियति का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार महेश्वर स्वयं ही अपनी इच्छा से अपनी माया शक्ति द्वारा त्रिविध मलों एवं पञ्च कञ्चुकों (कलादि) से स्वरूप संकोच का अवभासरूप पुरुष (पशु, जीव) बन जाता है और द्वैत के क्षेत्र में नाना प्रकार के रूपों, योनियों में संसरण कर दुःख पाता रहता है। परन्तु विद्या शक्ति द्वारा स्वरूप प्रत्यभिज्ञान अथवा शक्तियों के अनुसन्धान द्वारा पुनः परमेश्वर दशा में आरूढ़ हो जाता है।[97] यह प्रत्यभिज्ञान अनुपाय, शाम्भव उपाय, शाक्तोपाय, आणवोपाय शास्त्रादि मनन अथवा ईश्वर– अनुग्रह एवं शक्तिपात द्वारा बौद्ध और पौरुष अज्ञान दूर होने से बौद्ध एवं पौरुष ज्ञान के उदय द्वारा उत्पन्न होता है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन में दुःखों की सत्ता तो समानरूप से स्वीकार की गई है, परन्तु उनके कारण एवं निवारण प्रक्रिया में पर्याप्त मतभेद है। सांख्य किसी प्रक्रियात्मक साधन की अपेक्षा कोरे ज्ञान की ही शिक्षा देता प्रतीत होता है। योग मत में अवश्य ही इसकी योगिक प्रक्रियाओं का भी निरूपण मिलता है। दूसरी ओर, प्रत्यभिज्ञा दर्शन ज्ञान और विज्ञान– दोनों प्रक्रियाओं पर बल देता है। इसके योगिक साधन आध्यात्मिक उन्नति के उत्कृष्टतम उपाय प्रतीत होते हैं, जो पुरुष को आत्म–प्रत्यभिज्ञान (Self

94. "श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।" –तदेव, 2
95. "सैव (बुद्धि एव) च विशिनष्टि पुनः प्रधान–पुरुषाऽन्तरं सूक्ष्मम्।" –तदेव, 37
96. "..... प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।" –तदेव, 68
97. (क) "एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः। विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्धनो मुक्त उच्यते।।" –ई०प्र०का०, 3/13
(ख) "स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता।" –आ०वि०, 3/5

Realisation) से भी ऊँचे शिव-व्याप्ति (God-Self-Realisation) स्तर में पहुँचा देता है। जगत् अपनी शक्तियों का विकास रूप अनुभव होता है और इस प्रकार इसका साधक अति विकसित विश्वात्मक परमेश्वर के स्तर तक पहुँच जाता है।[98]

ज्ञान और अज्ञान की स्थिति

दोनों ही दर्शनों के अनुसार अज्ञान ही बन्धन का कारण होता है और ज्ञान ही मोक्ष का हेतु। परन्तु इस ज्ञान-अज्ञान के स्वरूप, कारण एवं क्रियाकलाप विषयक मतैक्य नहीं मिलता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भगवती परावाक् (परमसत्ता की अभिन्न शक्ति) ही क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में परमसत्ता से ऐक्य-प्राप्त सूक्ष्मतम ज्ञान का स्थूलतम रूप में आभासन करती है। अतः इसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में परमार्थरूप से अभेद होता है। ज्ञाता ही ज्ञान के माध्यम से ज्ञेय रूप में अवस्थित होता है। इस ज्ञान का अभेद रूप से अपने पूर्ण अबाधित सामर्थ्य से प्रकाशित होना ही शिवदशा होती है, परन्तु भेदरूप से अपूर्ण एवं संकुचित सामर्थ्य से स्फुरित होना ही अज्ञान एवं जीवदशा मानी गई है।[99] अतः यहाँ ज्ञान का अभाव (विरोधी) रूप अज्ञान नहीं माना जाता,[100] प्रत्युत् ज्ञान का सीमित रूप में प्रकाशित होना ही अज्ञान, जाड्य अथवा अविद्या माना गया है।[101] यह अज्ञान ही स्वरूप विकास की अवस्था में ज्ञान बन जाता है। यह ज्ञान और अज्ञान का आभासन भी परमसत्ता की स्वतन्त्र इच्छा की लीलामात्र है। परन्तु सांख्य मत में अज्ञान को अनादि माना गया है। पुरुष और प्रकृति भी अनादि और पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। इस अनादि अज्ञान के कारण ही पुरुष प्रकृति के संसर्ग में आता है और उस अनात्म में आत्माभिमान कर लेता है। इसीलिये वह उसके गुणों के कार्य सुख-दुःखादि को अपना समझकर कष्ट पाता है। संसृति चक्र में फंसा रहता है। अतः यहाँ पर अज्ञान विपर्यय ज्ञान को ही माना गया है और इस प्रकार से वह ज्ञान का विरोधी है। दूसरे, बुद्धि के ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य चार सात्त्विकभाव और अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य चार तामसिक भाव माने गये हैं। इनमें सत्त्वगुण सम्पन्न

---

98. "सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः। विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।" –तदेव, 4/12

99. (क) "मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते। महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत्।।" –ई०प्र०का०, 4/13
    (ख) "अपूर्णं जडमित्युक्तं पूर्णं चैतन्यमुच्यते।" –आ०वि०, 3/7

100. "प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति।" –तदेव, 1/34

101. (क) "अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्। ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्।।" –तं०आ०, 1/26
    (ख) "स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या, जगत्प्रकाशकत्वेन अविद्या।" –आ०वि०, 3/4

(प्रकाशशील) ज्ञान मुक्ति का कारण माना गयाहै और तमोगुणयुक्त (अन्धकाररूप) अज्ञान बन्धन का हेतु माना गया है।[102] अतः इस प्रकार से भी ज्ञान और अज्ञान दो विरोधी तत्त्व हैं और उनका अभिव्यक्ति-उद्‌गम भी (सत्त्व=तम) पृथक्-पृथक् है, यद्यपि यह एक ही बुद्धि के भाव हैं।[103] आश्चर्य तो इस बात का है कि बुद्धि भी जड़ है और सत्त्व-तम गुण एवं ज्ञान--अज्ञान भाव भी, और इनकी बुद्धि के साथ तादात्म्य के कारण अनुभूति करने वाला पुरुष चेतन होते हुये भी निष्क्रिय एवं अकर्ता है- अतः इनका समन्वय व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। परन्तु प्रत्यभिज्ञा में यह दुविधा नहीं है, क्योंकि ज्ञाता ही ज्ञान एवं ज्ञेय रूप में स्फुरित होता है। यह स्फुरण पूर्ण हो तो ज्ञान की दशा (पति अवस्था) मानी जाती है और यदि अपूर्ण हो तो अज्ञान कहा जाता है। वास्तव में ज्ञान--अज्ञान भी अपने आप में कुछ नहीं हैं। एक परमार्थ सत्ता ही यथार्थता सत् है और शेष सभी उसकी इच्छा शक्ति के विलास।[104]

प्राणीमात्र का कल्याण

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के प्रारम्भ और अन्त में उत्पलदेवाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उनको तो महेश्वर की भक्ति-लक्ष्मी प्राप्त हो चुकी है, परन्तु वे सभी प्राणियों की भलाई के लिये उसकी प्रत्यभिज्ञा का सरल प्रतिपादन कर रहे हैं। इसके माध्यम से सामान्यजन को भी अयत्न ईश्वर-सिद्धि (आत्म-महेश्वर की अनुभूति) प्राप्त हो जाती है।[105] यहाँ प्रयुक्त "जन" शब्द का अभिप्राय अभिनवगुप्त के अनुसार कोई भी जन्म-मरणधर्मी दुःखी व्यक्ति है। अतः प्रत्यभिज्ञा में जाति-धर्म-वर्ण-आश्रमादि की कोई दुविधा नहीं है। जो कोई भी इस मार्ग का अनुसरण करेगा- उसे परमसम्पदा (परमेश्वरता-लाभ) की प्राप्ति होगी ही अर्थात् जिस किसी को स्वरूपप्रथन होगा, उसे परमसत्ता की अनुभूति अवश्य होगी।[106]

---

102. "ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।" -सां०का०, 44
103. "अध्यवसायो बुद्धिः धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।।" -सां०का०, 23
104. "एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः। न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे।।" --बो०पं०, 14
105. (क) "कथञ्चिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्। समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्याभिज्ञामुपपादयामि।।" -ई०प्र०का, 1/1
     (ख) "जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना। ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।।" -तदेव, 4/18

इसी प्रकार सांख्यकारिका में भी जाति-वर्ग-धर्म-आश्रमादि का कोई भेदभाव प्रतीत नहीं होता है। परन्तु लौकिक एवं आनुश्रविक-साधनों को श्रेयस् की प्राप्ति के लिये उपयुक्त नहीं बतलाया है। व्यक्त-अव्यक्त और पुरुष का जो कोई भी सम्यक् विवेक करेगा- उसी को परमश्रेयस् की प्राप्ति होनी अभिव्यक्त की है।[107]

अतः स्पष्ट है कि दोनों दर्शन मानव समूह के कल्याण की प्रेरणा स्रोत एवं प्रकाश-स्तम्भ है। आज के वैज्ञानिक युग में ये विश्व-शान्ति का प्रबल प्रतीक हैं। प्रत्यभिज्ञा में पूर्णद्वैत दृष्टिकोण से समझाने की कोशिश की गई है और सांख्यकारिका में द्वैतभावना से। लक्ष्य दोनों का एक ही है- जगत्-कल्याण।

---

106. (क) "यः कश्चित् जननधर्मा, तस्य अतः सिद्धिः, ननु अत्र जात्याचारो भरः इति सर्वानुग्राहकत्वमुक्तम्।" -ई०प्र०वि०वि०भा० 3, पृ० 404

(ख) "जनस्येति-यः कश्चिज् जायमानस्तस्य इत्यनेनाधिकारविषये नात्र कश्चिन्नियमः इति दर्शयन्ति। यस्य यस्य हीदं स्वरूपप्रथनं तस्य तस्य महाफलम्।" -ई०प्र०वि०, 1/1/1

107. (क) "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानात्।।" -सां०का०, 2

(ख) "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत्। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः।।" -सां०का०गौ०भा०, पृ० 1

षष्ठम अध्याय

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का भारतीय दर्शन में स्थान

भारत प्राचीन काल से ही अध्यात्म प्रधान देश रहा है। अत: यहाँ के प्राचीन आप्त ग्रन्थ अध्यात्म विद्या से ओतप्रोत मिलते हैं। एक ओर निगम (उपनिषदादि) और दूसरी ओर आगम-तन्त्रादि इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं। दोनों प्रकार के शास्त्र अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्यक्षत:-अप्रत्यक्षत: एक परमसत्ता (ब्रह्म अथवा महेश्वर) से ही नि:सरित हुये हैं। अत: इनमें संकलित ज्ञान को दैवी ज्ञान माना जाता है। वैदिक परम्परा में तो यह माना जाता है कि इस अपौरुषेय दैवी ज्ञान का साक्षात्कार जिन-जिन ऋषि-मुनियों ने अपने तप-योग-ज्ञान, साधना और अनुभव[1] बल से प्राप्त किया-- उन्होंने अपनी-अपनी प्रतिभा-शक्ति के आधार पर इसे समझकर जगत्कल्याणार्थ प्रचारित एवं प्रसारित किया। इसी कारण विविध दर्शनों का प्राकट्य हुआ। आगम परम्परा यह मानती है कि भैरव अथवा भैरवी ने जगत्-कल्याणार्थ अपने अन्त: स्थित परावाक् रूप दैवी ज्ञान को पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के रूप में विकसित करके मौखिक ढ़ंग से अथवा शास्त्रादि में लिखित परम्परा से प्रकट किया। अत: आगमादि आप्त शास्त्र उस परम अद्वैत ज्ञान का स्थूलतम आभासमात्र हैं।[2] अत: प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढ़ंग से शिव अथवा शक्ति से यह ज्ञान प्राप्त करके सिद्ध साधकों ने इसे प्रसारित किया। इस प्रकार आगम एवं निगमादि में संकलित दैवी ज्ञान का मूल-स्रोत एक परमसत्ता ही है। मनुष्यों की ग्राह्य-शक्ति और मानसिक स्थिति के अनुसार उनके क्रमिक अथवा अक्रमिक आध्यात्मिक विकास के लिये परमार्थ ज्ञान के एक होते हुये भी इसमें अनेकता

1. "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभयोऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।।" -नि०, 1/20/2
2. द्रष्टव्य- मालिनी विजय वार्तिक

का पुट देने में परमसत्ता की सर्वकल्याणकारिणी स्वतन्त्र इच्छा ही झलकती है। इसीलिये आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि जिस प्रकार अनेकविध ज्ञानों का विश्रान्ति स्थल एक परासंवित् ही होती है, उसी प्रकार सभी दर्शन (उनमें प्रतिपादित सिद्धान्त अथवा ज्ञान) उस परमसत्ता की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न पढ़ाव (विश्रान्ति स्थल) मात्र हैं।[3] अर्थात् आत्मा की स्वेच्छा से अवगृहीत कृत्रिम एवं भिन्न-भिन्न भूमिकायें हैं, जिस प्रकार एक नट स्वेच्छा से विविध अभिनय करता है। अत: प्रत्येक दर्शन की अपनी-अपनी महत्ता है और वह मानव के कल्याण के लिये किसी न किसी प्रकार से उसके मानसिक स्तर अनुसार उसका उत्थान करता ही है। प्रत्यभिज्ञादर्शन मानव के सर्वतोमुखी विकास एवं आत्म-कल्याण का यथार्थ मार्ग प्रदर्शन करने के कारण सर्वत: श्रेष्ठ प्रतीत होता है।

जैसे अतीव साधारण जन (अथवा लोकायती) आत्मा के यथार्थ स्वरूप के विषय में अनभिज्ञ होने से- "पुत्र ही आत्मा है"- ऐसा मानते हैं।[4] अपने शरीर की भाँति अपने पुत्र के प्रति अगाध प्रेम होने, पुत्र की पुष्टता में अपनी पुष्टता मानने और उसकी नष्टता में अपना नाश समझने से पुत्र के प्रति ही "अहन्ता" का अनुभव करते हैं। यह विचार अतीव निम्न मानसिक स्तर वालों का है और व्यावहारिक जगत् में उपयोगी होने पर भी (क्योंकि इसी से सन्तान-पोषण इत्यादि की प्रेरणा मिलती है) आत्मा की पहचान करवाने में बाधक रूप होने से से सर्वथा उपादेय नहीं है।[5]

परन्तु इनसे एक स्तर ऊँचे चार्वाक मतावलम्बी- "चैतन्य विशिष्ट शरीर ही आत्मा होता है- ऐसा मानते हैं। इनके विचार में पुत्र आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि लौकिक व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि गृहादि में अग्नि लग जाने पर अपने प्रिय पुत्र को जलते घर में छोड़कर अपना सर्वथा प्रिय देह लेकर प्राणी भाग जाता है। अत: अपना शरीर ही सबसे प्रिय होता है। दूसरे अपने शरीर के लिये ही- "मैं मोटा हूँ", "मैं दुबला हूँ"- इत्यादि व्यवहार होता है। तीसरे, शरीर रहने पर ही चैतन्य का उदय एवं शरीर नष्ट होने पर चैतन्य का भी नाश सिद्ध हो जाता है। अन्नपान के उपयोग से शरीर में प्रकृष्ट चेतना का उदय एवं उसके न होने से ह्रास हो जाता है। श्रुति भी पुरुष को अन्नरसमय ही बतलाती

3. "तद्भूमिका: सर्वदर्शनस्थितय:।" -प्र०हृ०, सू० 8
4. "आत्मा वै जायते पुत्र:।" -कौ०ब्रा०उप०, 2/11, वे०सा०, पृ० 55
5. "चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा।" -प्र०हृ०, पृ० 60

है।[6] अतः चेतना युक्त शरीर ही आत्मा है ऐसा इनका दृढ़मत है। यह मत भी- "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" - "भूखे भजन न होये गोपाला", "पहले आत्मा, फिर परमात्मा", "Sound mind in a sound body" - इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में स्वस्थ शरीरादि की धारणा से युक्त होने पर भी यथार्थ आत्मज्ञान में बाधकरूप ही है। क्योंकि इसमें फंसकर मानव बाह्य सौन्दर्य पर ही अपना अमूल्य जीवन गँवा देता है।

इनसे भी एक स्तर ऊँचे कुछ चार्वाक "इन्द्रियों" को आत्मा मानते हैं, क्योंकि उनके विचार में इनके अभाव में शरीर का चलना मुश्किल होता है। दूसरे, "मैं बधिर हूँ", "मैं काणा हूँ" इत्यादि अनुभव भी इन्द्रियों के आत्मा होने में प्रमाण है। और कुछ दूसरे चार्वाक एवं कुछ वेदान्ती प्राण को ही आत्मा मानते हैं, क्योंकि प्राण के अभाव में इन्द्रियादि का चलना असम्भव हो जाता है। एवं- "मैं भूखा हूँ", "मैं प्यासा हूँ" - ऐसा अनुभव भी "प्राण" के आत्मा होने में प्रमाण सिद्ध होता है। इसी प्रकार "मन" को आत्मा मानने वाले चार्वाक मूर्च्छादि अथवा सुषुप्ति में मन के सुप्त होने पर प्राण के अभाव होने से, एवं- "मैं संकल्पान् हूँ",- इत्यादि अनुभव होने से भी मन का ही आत्मा होना सिद्ध करते हैं।[7] ये मत भी बाह्य शरीर की अपेक्षा आन्तरिक शारीरिक भावों तक ही सीमित है- आत्मा तक नहीं।

इनसे भी ऊँची मानसिक स्थिति वाले नैयायिक एवं वैशेषिक संसार दशा में ज्ञानादि गुण समूह के आश्रय "बुद्धि तत्त्व" को ही प्रायः आत्मा मानते हैं। और अपवर्ग (मोक्ष) की अवस्था में जब बुद्धि का उच्छेद (नाश) हो जाता है- तब वे आत्मा को प्रायः "शून्य" ही समझते हैं।[8] इसी प्रकार मीमांसक भी बुद्धि में ही चिपटे हुये हैं अर्थात् "बुद्धि" को ही आत्मा मानते हैं, क्योंकि वे "मैं" की प्रतीति से जाने जाने वाले एवं सुख-दुःख आदि की उपाधियों से आवरणित को ही आत्मा मानते हैं।[9] ज्ञानसंतति (ज्ञान के सतत प्रवाह) को ही "तत्त्व" मानने

6. "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।" -तै०उप०, 2/1/1, वे०सा०, पृ० 55
7. द्रष्टव्य- वे०सा०, पृ० 56 एवं - "प्राण एव आत्मा-इति केचित् श्रुत्यन्तविदः।" -प्र०हृ०, पृ० 60 एवं छां०उप०, 5/1/7, तै०उप०, 2/2/1, 2/3/1
8. "नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्।" -प्र०हृ०, पृ० 60 एवं तै०उप०, 2/4/1, 2/5/1
9. "अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा-इति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टाः।" -प्र०हृ०, पृ० 60, तै०उप०, 2/5/1

वाले सौगत (विज्ञानवादी बौद्ध) बुद्धि के व्यापारों तक ही सीमित है।[10] ये मतावलम्बी भी प्रकृति के विकाररूप बुद्धि पर्यन्त ही गति वाले हैं।

इनसे भी उच्च स्तर वाले अभाव ब्रह्मवादी– "पहले सब कुछ असत् रूप ही था"– शून्यभूमि में ही स्थित हैं। माध्यमिक (शून्यवादी) बौद्ध भी इसी स्तर के हैं।[11] अद्वैत शैवों अनुसार यह अपवेद्य सुषुप्ति की दशा ही होती है, आत्मस्वरूप की नहीं।

पाञ्चरात्रों के अनुसार भगवान् वासुदेव ही सबसे उत्कृष्ट प्रकृति है और जीव उनकी चिन्गारी की भाँति ही हैं। अतः जीव को परा प्रकृति का परिणाम मानने के कारण वे "अव्यक्त" अवस्था तक ही सीमित हैं।[12]

सांख्य और योग मत वाले प्रायः विज्ञानाकल दशा का अवलम्बन करते हैं।[13] कुछ वेदान्ती– "पहले (सृष्टि से पूर्व) यह सब कुछ (चराचर जगत्) सत् ही था"– ऐसा मानने वाले हैं और वे इस प्रकार ईश्वर तत्त्व के क्षेत्र पर्यन्त ही सीमित रहते हैं।[14] शब्द ब्रह्ममय पश्यन्तीरूप को आत्म-तत्त्व मानने वाले वैयाकरण लोग सदाशिव तत्त्व की अवस्था को ही परमार्थ दशा मानने वाले हैं।[15] आगामों में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है कि बौद्ध मतावलम्बी बुद्धि तत्त्व में स्थित हैं, आर्हत (जैन) गुणों में, वेदविद् पुरुष में और पाञ्चरात्रिक अव्यक्त (प्रकृति) में अवस्थित हैं[16] अर्थात् उनका परमार्थ तत्त्व प्रायः इन्हीं दशाओं का द्योतक है। तान्त्रिकजन आत्मतत्त्व को विश्वोत्तीर्ण मानते हैं[17] और कुलादि आम्नायों के अनुरागी आत्मतत्त्व को विश्वमय कहते हैं।[18] इसी प्रकार अन्य

10. "ज्ञानसंतान एव तत्त्वम् – इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः।" –तदेव, पृ० 60, तै०उप०, 2/4/1
11. असदेव इदमासीत् – इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः। माध्यमिका अपि एवमेव।।" –प्र०हृ०, पृ० 61 एवं छां०, 6/2/1, माण्ड०उप०, 5
12. "परा प्रकृतिः भगवान् वासुदेवः तद्विस्फुलिंगप्राया एव जीवाः – इति पाञ्चरात्राः परस्या प्रकृते परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः।" –तदेव
13. "सांख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिम् अवलम्बन्ते।" –प्र०हृ०, पृ० 61
14. "सदेव इदमग्र आसीत्-इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः।" –तदेव
15. "शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपम् आत्मतत्त्वम् - इति वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः।" –तदेव
16. "एतच्च आगमेषु – बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः। स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः।।" –तदेव, पृ० 62
17. "विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम् – इति तान्त्रिकाः।" –तदेव
18. "विश्वमयम् इति – कुलाद्याम्नायनिविष्टाः।" –तदेव

दर्शनों के विषयों में भी अनुमान लगाया जा सकता है कि वे आत्मा की एक विशेष भूमि के ही द्योतक हैं, उसके पूर्ण एवं पारमार्थिक स्वरूप के परिचायक नहीं।

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त ही एक वैज्ञानिक, तर्कसंगत एवं परिपूर्ण दर्शन है, क्योंकि यह आत्मा अथवा परमसत्ता का परमार्थ स्वरूप अभिव्यक्त करता है। इसके अनुसार परमसत्ता विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय भी है।[19] प्रकाश और विमर्शरूप है। अपने प्रकाश अथवा विश्वोत्तीर्ण रूप से वह समस्त प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय रूप विश्व-प्रपञ्च को ऐकात्म्यभाव से अपने आन्तर (हृदय) में संजोये रखते हैं और विश्व-सिसृक्षा के समय अपने स्वातन्त्र्य से इस अभेदरूप में स्थित अर्थसमूह (प्रमेयराशि) को भेदरूप में प्रकाशित करते हैं। यह कार्य सम्पादन इनकी अपनी माया शक्ति से सम्पन्न होता है। उसमें किसी बाह्य उपादान कारण अथवा किसी दूसरे की इच्छा का पारतन्त्र्य नहीं होता है। इनकी अभिन्नरूपा विमर्शशक्ति ही शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त सभी तत्त्वों (प्रमेयों) और शिवादि सकलान्त प्रमाताओं के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। इस अनुत्तर विमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना परा भगवती के प्रसार से जगत् उन्मीलित एवं स्थित होता है और प्रसरण की निवृत्ति में संहार हो जाता है।[20] ये ही इनका विश्वमयरूप है।[21] माया एवं प्रकृत्यादि इस चित्प्रकाश से पृथक् होने पर अस्तित्वयुक्त ही नहीं हो सकते, अतः जगत् सृष्टि नहीं कर सकते और अभिन्नता की स्थिति में प्रकाशयुक्त होने से प्रकाशरूपा चिति की ही जगत्-कारणता सिद्ध करते हैं।[22] देश-काल और आकार (रूप) आदि भी इसी से सृष्ट और अनुप्राणित होते हैं, अतः इसका स्वरूप भेदन करने में असमर्थ हैं, क्योंकि यह व्यापक, नित्योदित और परिपूर्णरूपा है।[23] आशंका हो सकती है कि कार्य-कारण-भाव में कार्य कारण

---

19. "विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च-इति त्रिकादिदर्शनविदः।" -तदेव

20. "विश्वस्य-सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य-सिद्धौ-निष्पत्तौ, प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा चितिः भगवती स्वतन्त्रा-अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः- कारणम्। अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।" -प्र०हृ०, पृ० 44

21. "चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।" -प्र०हृ०, सू०, 1

22. "अन्यस्य तु मायाप्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम्, प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः, न त्वसौ कश्चित्।" -तदेव, पृ० 45

से भिन्न समझा जाता है। चूँकि प्रत्याभिज्ञा दर्शन में चिति को जगत् का कारण माना गया है, इस प्रकार यदि चिति और जगत् में अभेद माना जायेगा, तो जगत् चिति का कार्य कैसे होगा ? क्योंकि कार्य तो कारण से भिन्न ही होता है। इसके समाधान में कहा जा सकता है कि स्वच्छ और स्वतन्त्र होने के कारण भगवती चिति (विमर्श शक्ति) ही नानाविध अनन्त वैचित्र्य-सम्पन्न जगत् के रूप में उल्लसित होती है। अत: यही पारमार्थिक कार्य-काण-भाव है। तात्पर्य यह है कि परमार्थ में कार्य-कारण-भाव में क्रम नहीं होता है। क्रम में ही कार्य कारण से भिन्न होता है। यहाँ पर तो चिति भगवती का स्फुरणरूप ही जगत् का उन्मेषरूप माना गया है। अत: दोनों का यौगपद्य (एक साथ चिति-स्फुरण एवं जगत् अस्तित्वोन्मेष होना) है। इसलिये क्रम नहीं।[24] चूँकि चिति ही प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूप विश्व की सत्ता में कारण है, इसलिये इस पूर्ण स्वतन्त्रा, अपरिच्छिन्ना एवं स्वप्रकाशरूपा को सिद्ध करने में बेचारा प्रमाण न तो उपयुक्त ही है और न समर्थ है, क्योंकि वह इसी से अनुप्राणित होता है तथा उसका कार्य किसी नवीन अर्थ को सिद्ध करना होता है। परन्तु चिति भगवती के सदा वर्तमान होने से प्रमाण उसे क्या सिद्ध करेगा ?[25]

इस प्रकार विश्वोत्तीर्ण परमसत्ता प्रकाशस्वरूप है और सभी भाव भी प्रकाशैकरूप ही हैं। परमशिव की अवस्था में- जो कि विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघन रूपों वाले हैं- शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त अखिल जगत् प्रपञ्च अभेदरूप से ही स्फुरित होता है। वास्तव में उनसे भिन्न कोई ग्राह्य-ग्राहक होता ही नहीं है, प्रत्युत् परमसत्ता ही इस प्रकार नाना सहस्रों विचित्र रूपों में प्रकाशित हो रही है।[26] इसी तथ्य का समर्थन श्रीमदुच्छुष्मभैरव[27] और स्पन्दशास्त्र में किया गया है।[28] अत: प्रत्यभिज्ञा दर्शन एक परमार्थसत्ता का प्रतिपादक है। वह ही शिव है, वह ही शक्ति और वह ही जगत्।

---

23. "अतएव देशकालाकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम् -इति व्यापक-नित्योदित-परिपूर्णरूपा इयम्।" -तदेव, पृ० 45

24. "चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति-इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभाव:।" -प्र०हृ०, पृ० 45

25. "यतश्च इयमेव प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ-प्रकाशने हेतु:, ततोऽस्या: स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपाया: सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुपपुयुक्तम् उपपन्नं वा।" -तदेव, पृ० 45, 46

26. "तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुष: प्रकाशैकरूपा एव भावा:। श्रीमत्परमशिवस्य पुन: विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुत: अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रै: स्फुरति।" -प्र०हृ०, पृ० 51

व्यवहार में भेद समुद्र और उसके विकाररूप तरंग, बुद्बुद की भाँति ही है– परमार्थ में पूर्णाभेद ही है।[29]

दूसरी ओर, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध-जैन, मीमांसादि दर्शन आत्मा के परमार्थ स्वरूप का विवेचन नहीं करते हैं। उनका दृष्टिकोण न्यूनाधिक रूप में पूर्णतया द्वैतवादी ही है। उनका कार्य-कलाप क्षेत्र भी प्रकृति अथवा माया के क्षेत्रवर्ती ही है। इससे ऊपर उनकी पहुँच नहीं गई है। उनकी जगत्-सृष्टि एवं बन्ध-मोक्ष की धारणा भी अस्पष्ट एवं युक्तिसंगत नहीं है।

यथा – चार्वाक तो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु– चार ही तत्त्वों का अस्तित्व मानता है और इनके स्वाभाविक अथवा आकस्मिक संयोग से ही जगत् सृष्टि एवं वियोग से संहार मानता है, जो स्पष्टतया एक चेतन और सार्वभौम शक्ति की क्रिया बिना असम्भव ही है। इन्होंने यद्यपि चेतना विशिष्ट शरीर को ही पुरुष माना है, परन्तु यह चेतना कोई नित्यसत्ता नहीं, प्रत्युत् इन तत्त्वों के मिलाप से मदशक्ति की भाँति एक आकस्मिक गुण ही है, जो शरीर छूटने के साथ ही नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यह मृत्यु को ही अपवर्ग मानते हैं[30], जो भ्रान्त धारणा पर ही अवलम्बित है।

न्याय-वैशेषिक मत में आकाशादि तत्त्वों के सूक्ष्म एवं अविभाज्य परमाणुओं के संयोग से स्थूल तत्त्वों एवं उनसे जगत् का विकास माना गया है। इस संयोग के पीछे ईश्वर की प्रेरणा की भी सम्भावना की है। परन्तु ईश्वर की प्रेरणा का हेतु क्या है ? वह परमाणुओं का जगत् रूप में मिलान क्यों करता है ? यदि जीवों पर अनुग्रह करने के लिये माना जाये, तो भी जीवों की स्थिति सृष्टि से पूर्व ही माननी पड़ेगी– जो अद्भुत-सी बात लगती है। यदि सृष्टि के पश्चात् अनुग्रह करने की बात कहें– तो फिर सृष्टि और अनुग्रह एक-दूसरे पर आश्रित दोष से ग्रसित हो

27. "तदुक्तं श्रीमदुच्छुष्मभैरवे– "यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये। वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः।।" –शि०सू०वि०, पृ० 13

28. "तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः। भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः।।" –स्प०का०, 2/3

29. "क्वचिद् भवान् क्वचिद् भवानी सकलतत्त्वार्थगर्भिणी प्रधाना। परमार्थदृष्ट्या तु न भवतो न देव्या न जगत्त्रयस्यापि भेदः।।" –शि०स्तो०, 20/18

30. "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। तेभ्यश्चैतन्यम्। किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्। चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः। मरणमेवापवर्गः।" –बृह०सू०, भा०द०, पृ० 78

जायेंगे। दूसरे, इन द्वारा मान्य ईश्वर जगत् रचना के लिये उपादान कारण नित्य परमाणुओं पर निर्भर रहने से पूर्ण स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। तीसरे, ईश्वर और नित्य परमाणुओं (ये प्रकृति के ही तमो अंश अथवा तन्मात्र तत्त्व कहे जा सकते हैं) की सत्ता मानने से– दो नित्य सत्तायें होने से द्वैतता को सिद्ध करते हैं, परमार्थसत् एक को नहीं। मुक्ति के सम्बन्ध में इनकी धारणा दार्शनिक जगत् में उपहास का विषय बनी हुई है, क्योंकि इन्होंने दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को ही अपवर्ग माना है।[31] परन्तु इस दुःखाभाव के साथ-साथ किसी सुख का भाव (अस्तित्व) भी नहीं माना है। केवल मुक्त दशा में आत्मा के नवों विशेष गुणों– बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का नाश हो जाता है। मुक्तावस्था में शरीर के न रहने से चैतन्य का भी सर्वथा अभाव रहता है। इसीलिये वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नैयायिक मुक्ति पर कटाक्ष करते हुये कहा है कि जिस सूत्रकार (अक्षपाद गौतम) ने सचेत पुरुषों के लिये अज्ञान-सुख-दुःखादि से रहित शिलारूप मुक्ति (जीवन का परम लक्ष्य) की प्राप्ति का उपदेश दिया है, उसका गोतम नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है, प्रत्युत् अर्थतः भी। वह केवल गौ (बैल) न होकर गोतम (अतिशयेन गौः– गोतम) अर्थात् पक्का बैल है।[32] इसी प्रकार वैष्णव दार्शनिकों ने भी वैशेषिकों की निरस मुक्ति की अपेक्षा वृन्दावन के सरस निकुञ्जों में शृगाल बनकर रहना श्रेष्ठ कहा है।[33] दूसरे, नैयायिक लोग अनादि अज्ञान के कारण ही जीव का बन्धन[34] और इससे निवृत्तिहेतु ईश्वर द्वारा परमाणुओं से सृष्टि तथा ज्ञान से मुक्ति मानते हैं[35], परन्तु न्याय-वैशेषिक मतों में जीवों के कर्मों के और उनके मिथ्याज्ञान के अनादित्व की यह कल्पना भी अत्यन्त दोषप्रद है।

सांख्य और योग दर्शनों की मुक्ति में भी यही दोष हैं। इनके मत में प्रकृति और पुरुष दो नित्य पदार्थ हैं। प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं। प्रकृति के जड़ होने पर भी स्वभाववश अनादि अज्ञान से युक्त पुरुषों के भोग

---

31. "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।" –न्या०सू०, 1/1/22
32. "मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्। गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।।" –नै०च०, 17/75
33. "वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्। वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्।।" –स०सि०सं०, पृ० 28
34. "मिथ्याज्ञानाद्रागद्वेषमोहस्ततो दोषाः। ततः प्रवृत्तिस्ततो जन्म ततो दुःखम्।।" –न्या०भा०, 4/1/2
35. "मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात्। तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्गः।।" –तदेव

और मोक्ष के लिये क्षोभ हो जाता है।[36] इस क्षोभ में उसके सत्त्व, रजस् और तमोगुणों में विषमता आ जाने से क्रमशः अन्तःकरण, बाह्यकरण, तन्मात्र और स्थूलभूत प्रकट हो जाते हैं। इन जड़ तत्त्वों में भी परस्पर मिश्रण एवं परिवर्तन से असंख्य प्रकार के भुवन, शरीर और भाव प्रकट हो जाते हैं। अनादि अज्ञानवश पुरुष सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध होकर स्वयं चेतन, साक्षी एवं अकर्ता होने पर भी प्रकृति के गुणों को अपना मान लेने से भोक्ता बनकर सुख-दुःख भोगता है और शुभाशुभ कर्मों के अधीन होकर आवागमन चक्र में फंस जाता है। वास्तव में धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, बन्धन, मुक्ति आदि प्रकृति के ही धर्म होते हैं।[37] विवेक ख्याति से प्रकृति से पार्थक्य होने पर समस्त संसार से छूटकर एक चिरस्थायी अकेलेपन में शून्य गगन की भाँति पड़ा रहता है। इस अकेलेपन की शून्याकार परम शान्ति को कैवल्य कहा गया है, जिसे शैवों ने सुषुप्ति दशा तुल्य माना है, यथार्थ एवं सदातन मुक्ति की अवस्था नहीं। सांख्य-योग की मुक्ति की भाँति ही वैदिक मुक्ति को भी यथार्थ मुक्ति की दशा नहीं माना है, क्योंकि कैवल्य की दशा में पड़े हुये पुरुषों को श्रीकण्ठनाथ प्रकृति के नवीन क्षोभ के समय पुनः सुषुप्ति से जगाकर संसृति के चक्र में पूर्वकर्मों के अनुसार उलझा देते हैं।[38] दूसरे, जड़ प्रकृति के क्षोभ से सुविचित्र परिणामों की प्रेरणा किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व के बिना सम्भव नहीं हो सकती।[39] योग मत में ईश्वर को माना तो गया है, परन्तु उसे केवल मुक्तिमार्ग का प्रदर्शक, क्लेशादि दोषों से रहित, नित्य पुरुष विशेष ही माना है, सृष्टि, स्थिति, संहारादि की शक्ति अथवा प्रकृति की प्रेरणा (या नियमन) करने की सामर्थ्य उसमें नहीं मानी गई है।[40] अतः सांख्य-योग की मुक्ति एवं सृष्टि-कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं है।

मीमांसा दर्शन से स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकों में गमन तो हो सकता है, परन्तु पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में आगमन हो जाता है। इनके मत में

36. "वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।।" -सां०का० 57

37. "तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।" -सां०का० 62

38. "सांख्यवेदादिसंसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदर्हमुखे। सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ् मुक्तिरीदृशी।।" -तं०आ०, 6/152

39. "स च क्षोभः प्रकृतेस्तत्त्वेशाधिष्ठानादेव। अन्यथा नियतं पुरुषं प्रतीति न सिद्धयेत्।।" -तं०सा०, 5/85

40. "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" -यो०सू० 1/26

भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रियाँ और भोग्यविषय– ये तीनों पुरुष को बन्धन में डालते हैं– अतः इस त्रिविध प्रपञ्च के सम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है[41], जबकि वेदान्त में प्रपञ्च लय को मोक्ष कहते हैं। इनके मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता है। चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं माना जाता, प्रत्युत् शरीरादि के सम्पर्क में आने पर ही उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है। मोक्ष दशा में आत्मा शरीरादि से विच्छिन्न हो जाता है। अतः साधन के अभाव में सुख का अनुभव उसे नहीं हो सकता। तब उस दशा के लिये प्रयत्न ही क्यों किया जाये ? मीमांसक कर्मकाण्ड पर बहुत बल देते हैं और इसी के माध्यम से मुक्ति को सम्भव मानते हैं, परन्तु कर्मों के शुभाशुभ फल के नियामक चेतन ईश्वर को न मानकर जड़ "अदृष्ट" अथवा "अपूर्व" को मानते हैं– जो हास्यास्पद बात ही है। मूल जगत् की सृष्टि-संहृति नहीं मानते– प्रत्युत् व्यक्तियों का उत्पत्ति-विनाश मानते हैं। जगत् के सभी पदार्थों का निर्माण अणुओं से मानते हैं। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणु संयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और फल-समाप्ति पर उनका नाश हो जाता है। अतः इनका जगत् सृष्टि एवं कर्मफल जड़ अणुओं के संयोग से मानना युक्तिसंगत नहीं है– क्योंकि क्रिया अथवा प्रेरणा चेतन की ही हो सकती है।

बौद्ध मतानुसार यह संसार केवल आभासित (प्रतीत) ही होता है, इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अनन्त क्षणिक वस्तुओं की परम्पराओं में एकता का और एकवस्तु होने का जो आभास होता है, वह कल्पनामात्र है। इसी प्रकार क्षण-क्षण में विलीन होते हुये चित्त के विज्ञानों की परम्परा को ही भ्रम के कारण कल्पना के आधार पर स्थिर रहने वाला आत्मा समझ लिया जाता है, जबकि क्षणिक चित्त और उसके क्षणिक विचारों को छोड़कर और किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। क्षणिक चित्तों की इन परम्पराओं को अनादि वासनायें घेरे रखती हैं। उन वासनाओं के प्रभाव से इन क्षणिक चित्तों में दो प्रकार के विचारों का उदय होता ही रहता है। ये चित्त अपने विषय में "मैं" इस प्रकार की कल्पना करते ही रहते हैं। इसे "आलय विज्ञान" कहा जाता है। पुनः अपने ऊपर पड़े हुये आन्तर (सुख-दुःखादि) और बाह्य (नील-पीतादि) विषयों के प्रतिबिम्बों के विषय में प्रमेयता की कल्पना करते हुये उन्हें प्रमेयतया जानते रहते हैं– ऐसे विचारों को "प्रवृत्ति विज्ञान" कहते हैं।[42] सर्वास्तिवादी बौद्ध

---

41. "त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति-भोगायनतं शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते, तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः।।" –शा०दी०, पृ० 358

42. "तत् स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमात्सकम्। तत् स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्।।" –स०द०सं०, पृ० 15

(वैभाषिक) चित्त और चैत्त (उसके विचार), पञ्चभूत एवं तज्जन्य पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्षतः एवं सौत्रान्तिक चैत्त की सत्ता अनुमानतः मान लेते हैं, परन्तु विज्ञानवादी (योगाचार) केवल क्षणिक विज्ञान (चित्त) की सत्ता मानते हैं। शेष सभी का चित्त की वासनाओं के कारण स्वप्नवत् अवभासित होना मानते हैं। अतः चित्त को छोड़कर न जीव का ही कोई अस्तित्व है और न जगत् का।[43] माध्यामिक (शून्यवादी) बौद्ध अनिर्वचनीय शून्य को ही परमार्थ मानते हैं और अष्टांग मार्ग के माध्यम से अविद्यादि क्लोशों के नष्ट होने पर जगत्-मिथ्यात्व विनिश्चय होने पर शरीर नाश हो जाने से आलय विज्ञान की धारा का भी उच्छेद होना मानते हैं।[44] जैसे तेल की समाप्ति से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही चित्त-वासना एवं शरीर के विनाश से चित्त भी बुझ जाता है (निर्वाण को प्राप्त होता है[45])। अतः प्रमाता शून्यभाव में विलीन हो जाता है। ऐसी मुक्ति से तो सुख-दुःखात्मक संसार ही अच्छा है। शैवों अनुसार यह दशा प्रगाढ़ सुषुप्ति की ही है। दूसरे, क्षण-क्षण में उदय-अस्त होने वाले विज्ञानों के संस्कारों का धारक कोई नित्य एवं स्थायी प्रमाता होना चाहिये- नहीं तो संस्कारों के ग्राहक के बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता। क्योंकि क्षणिक विज्ञानों के मध्य परस्पर किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के न होने से स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुसन्धान, कल्पनादि ज्ञान के विचित्र व्यापारों एवं उन पर आश्रित विश्व के अनन्त व्यवहारों का होना भी सम्भव नहीं हो सकता।[46] संसार के समस्त व्यवहार स्मृति पर आश्रित हैं और इसकी सिद्धि के लिये क्षणिक अनुभवों के संस्कार के आधार के रूप में स्थायी एवं नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार किये बिना कार्य नहीं चल सकता है।[47] अतः बौद्धों का मत भी यथार्थ मुक्ति नहीं दिला सकता और न ही जगत् की उचित व्याख्या करता है।

---

43. "नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति, तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।।"
 –तदेव, पृ० 13

44. "चित्तमात्रमिदं विश्वमिति या देशना मुनेः। तत् त्रासपरिहारर्थं बालानां सा न तत्त्वतः।।
 सापि ध्वस्ता महाभागैश्चित्तमात्रव्यवस्थितिः।" –तं०आ०, भा० 1, पृ० 66

45. "दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।। एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।"
 –सौ०नं०, 16-28, 29

46. "एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्। ज्ञानानामनुसन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः।।"
 –ई०प्र०का०, 22

47. "न चेदन्तःकृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः। स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्।।"
 –तदेव, 23

जैन मत में जगत् सृष्टि पुद्गलों (प्रकृति, परमाणु आदि स्थानीय) के संयोग एवं वियोग से संहार हो जाता है। परन्तु इन पर भी उपर्युक्त दर्शनों की भाँति जड़ पुद्गलों के संयोग-वियोग करने में चेतनसत्ता ईश्वर के न मानने से असमर्थता के दोष से जगत् सृष्टि विषयक वही आक्षेप किया जाता है। दूसरे, जैन मत में भी कर्मों की अनादिता का दोष आता है। इनके मतानुसार भूः, भुवः आदि लोकों से ऊपर आलोकाकाश में सिद्धशील संजक शुद्धतम स्थान में तीर्थंकरों जैसे मुक्त जीव निवास करते हैं। उनके सूक्ष्मतर शरीर भी होते हैं, जिनसे वे निचले लोकों में आ जा सकते हैं। अतः तीर्थंकरों का सिद्धशील स्थान भी स्वप्न संसार का ही कोई लोक हो सकता है, जिसकी प्राप्ति भी पूर्ण मुक्ति नहीं कही जा सकती है। वहाँ से वापिस आकर पुनः संसार-बन्धन होता ही होगा।

अद्वैत वेदान्त अनुसार एक परमार्थ सद्वस्तु ब्रह्म है, जो ज्ञान स्वरूप है।[48] माया के कारण ही वह एक ओर से ईश्वर, दूसरी ओर से जीव और तीसरी ओर से जगत् के रूप में भ्रान्ति से अध्यासित होता रहता है।[49] जगत् तो बन्ध्या पुत्र की भाँति सर्वथा मिथ्या है[50], परन्तु स्वयं मिथ्यारूपा अनादि एवं अनिर्वचनीय माया[51] (अविद्या) के कारण इसका आभासमात्र होता ही है, जिस प्रकार अन्धकार के कारण रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। जीव, ईश्वर और जगत् का मिथ्याभास ही विवर्त[52] एवं इसके कारण वेदान्तमत विवर्तवादी अभिहित होता है। ब्रह्म को केवल ज्ञान रूप एवं निष्क्रिय मानने से (अतएव शक्तिहीन) ही वेदान्तियों के

---

48. "सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" –तै०उप०, 2-1-1

49. (क) "तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो, विद्यापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते।"
–ब्र०सू०शां०भा०, 2-1-14

(ख) "चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा। तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्।।" –पं०द०, 3-40

50. "स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।।"
–गौ०पा०का०, 2/31

51. "सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नेत्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा।।" –वि०चू० श्लो० 111

52. (क) "विवर्तते–तदसत्यरूपमात्मन्युपगच्छति, असत्य-विभक्तान्यरूपो [illegible] विवर्तस्तस्यास्तद्विवर्त्तते।" –शि०दृ०वृ०, 2/9

(ख) "सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः। अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा वि[illegible]दाहृतः।।"
–वे०सा०, पृ० 67

ब्रह्म को जगत् रचना के लिये माया का सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि मायोपहित चैतन्य (ईश्वर) से ही वेदान्ती सृष्टि रचना मानते हैं। परन्तु यह माया कहाँ से आई ?

यदि वेदान्ती माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हों, तो ब्रह्म में क्रियाशीलता भी माननी पड़ेगी– जो उन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि वह केवल माया से प्रभावित ईश्वर (सगुण ब्रह्म) में ही मानी गई है– निर्गुण ब्रह्म में नहीं और यदि उसे ब्रह्म से भिन्न मानते हों, तो द्वैतता का दोष आता है। सांख्य और वेदान्त में पुरुष अथवा आत्मा को निष्क्रिय ही माना गया है। अतः वेदान्ती ब्रह्म एवं जगत् प्रक्रिया सहित माया के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने में युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते हैं। इनकी मुक्ति की धारणा भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि वेदान्तानुसार ज्ञान से समस्त द्वैत प्रपञ्च अद्वैतभाव के भीतर बुझ-सा जाता है।[53] तब न कोई सुख और न कोई दुःख का अनुभव होता है। शुद्ध आकाश की जैसी शान्ति में आत्मा खो जाता है। यही चरम लक्ष्य होने से मुक्ति कही गई है।[54] शैवों के मत में माया का अनादित्व एवं अनिर्वचनीयत्व अक्षम्य हैं एवं वेदान्तसम्मत ब्रह्म-निर्वाण की दशा में दुःख के अभाव की ही प्राप्ति मानी जा सकती है, किसी भावात्मक आनन्द की नहीं, क्योंकि वेदान्त की दृष्टि में ब्रह्म वस्तुतः ऐश्वर्यहीन होता है।[55] भावात्मक आनन्द की अभिव्यक्ति अपने ऐश्वर्य के आभिमुख्य के बिना हो ही नहीं सकती। विषयानन्द की अनुभूति में भी तो अपने ऐश्वर्य की क्षणिक अभिव्यक्ति होती ही है, जिसे मूढ़जन नहीं समझते हैं।[56] इसीलिये प्रत्यभिज्ञा अद्वैत शैव दर्शन की दृष्टि में अपने ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति से हीन होती हुई वह ब्रह्मनिर्वाण की दशा भी पूर्ण मुक्ति नहीं हो सकती है। तुर्या दशा का उन्मेष मात्र हो सकता है। इसीलिये इसे शून्यभाव की अपेक्षा ब्रह्मभाव अथवा अभाव की अपेक्षा सद्रूप कहा गया है। ब्रह्म की

---

53. "अविद्या निर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्, प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्याया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते।" –शा०दी०, पृ० 356

54. "ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्। ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्।।" –गौ०पा०का०, 4/1

55. "परम[illegible]ोशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादि [illegible] "एष स[illegible]र्वेश्वर, एष भूताधिपतिरेष भूतपाल, एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदायेति।" [illegible] 2/1/14

56. [illegible] [illegible]क्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्। निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूढस्तं मन्यते विधिम्।।" –वि०भै०उ०, पृ० 59

ईश्वरता की असत्यता एवं उसके (ईश्वरता के) माया के कारण आभासित होने की बात पर भी शैव सहमत नहीं हैं, क्योंकि परमेश्वरता ही परमसत्ता (परब्रह्म, परमेश्वर) का मुख्य स्वभाव है। उसके बिना तो वह जड़ घटादिवत् ही होता एवं उसका संवित्त्व (चेतनत्व) व्यर्थ होता।[57] यह परमसत्ता प्रकाशात्मा है और प्रकाश विमर्श स्वभाव होता है।[58] और यह विमर्श ही विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार द्वारा अकृत्रिमाहंरूप से स्फुरित होता रहता है। यदि वह निर्विमर्श होता, तो जड़ अनीश्वर ही होता।[59] जगत् के आभास एवं माया के अपने आभास के लिये भी ऐश्वर्यवान् (शक्तिमान्) एवं सर्वज्ञतादि से समन्वित सार्वभौम सत्ता ही सर्वथा समर्थ हो सकती है। अभिनवगुप्त ने इसीलिये वेदान्त के ऐश्वर्यहीन तथा अशक्त ब्रह्म में तथा बौद्धों के शुद्ध विज्ञान अथवा शून्यवाद में कोई अन्तर नहीं माना है।[60] प्रत्यभिज्ञा दर्शनानुसार चिति ही चित्त एवं पुनः चित्त ही चितिरूप में आरूढ़ हो जाता है, परन्तु सांख्य में एवं वेदान्त में जगत् प्रपञ्च प्रकृति अथवा माया में विलीन होता है।

अतः प्रत्यभिज्ञादर्शन ही पूर्ण अद्वैत दर्शन है। वेदान्त का साधक अधिक से अधिक आत्म-व्याप्ति (Self Realisation) की दशा तक पहुँच सकता है, जिसमें माया-प्रपञ्च नहीं रहता और केवल अपने स्वरूप का बोध हो जाता है, परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन का साधक शिवव्याप्ति की अवस्था तक पहुँच जाता है, जिससे माहेश्वर्य की प्राप्ति होती है।[61] जगत् अपनी शक्तियों का विकासरूप दिखाई देने से परमानन्दमय अनुभूत होता है। आत्म-महेश्वर के प्रत्यभिज्ञान से शिव तुल्य हो जाता है।[62]

---

57. "अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः। महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्।।"
   –तं०आ०, 3/100
58. "स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा। प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।।"
   –ई०प्र०का०, 42
59. "इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशेन, विश्वसंहरणेन चाकृत्रिमाहम्–इति विस्फुरणम्। यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत्।।" –परा०प्रा०, पृ० 2
60. "अन्तर्गतविश्ववीर्यसमुच्छलत्सत्तात्मकविसर्गविश्लेषानन्दशक्त्येकघनं ब्रह्म–बृहद्, व्यापकं, बृंहितं च, न तु वेदान्तपाठकांगीकृतकेवलशून्यवादाविदूरवर्ति-ब्रह्मदर्शन इव।"
   –परा०त्रिं०वि०, पृ० 221
61. "पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपावलोकनं हि यत्। आत्मव्याप्तिर्भवत्येषा शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा।। सार्वज्ञादिगुणा येऽर्था व्यापकान्भावयेद्यदा। शिवव्याप्तिर्भवत्येषा चैतन्ये हेतुरूपिणी।।"
   –शि०सू०वि०, पृ० 147
62. "शिवतुल्यो जायते।" –शि०सू०, 3/25

अतः स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन भारतीय दर्शनों में सर्वोत्कृष्ट स्थान रखता है।[63] मानवमात्र के परम निःश्रेयस् के लिये सहज मार्ग का उद्घाटन करता है। आत्म-चेतना के विश्व-चेतना के रूप में प्रत्यभिज्ञान के माध्यम से पशु को पति अथवा जीव को परमेश्वर रूप में अनुभूति कराने से उसका सर्वतो उत्थान करता है।

63. "वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्। ततो मतं ततश्चापि त्रिकं (प्रत्यभिज्ञादर्शनं) सर्वोत्तमं परम्।।" -तं०आ०, 1/5/49

सप्तम अध्याय

उपसंहार

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और सांख्यकारिका के आधार पर पर्यालोचन से विदित होता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन न केवल सांख्य दर्शन, प्रत्युत् अन्य सभी दर्शनों से भी उत्कृष्टतम सिद्धान्त का परिचायक है। उन मतों में आत्मा, परमात्मा, जगत्, ज्ञान, अज्ञान अथवा चराचर तत्त्वों के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणायें थीं- यह उनका सम्यक् रूपेण परिष्कार करता है। एक स्वच्छ, तर्कसंगत और वैज्ञानिक ढ़ंग से तथ्यों का प्रतिपादन करता है।

निःसन्देह सांख्य दर्शन परमर्षि कपिल जैसे सिद्ध एवं आप्त महापुरुष द्वारा प्रणीत है और इसमें पुरुष और प्रकृति- दो मूल तत्त्वों के माध्यम से सम्पूर्ण चराचर जगत् का कुल पच्चीस तत्त्वों के रूप में विकास दिखाया गया है। पुरुष का चेतनत्व एवं प्रकृति का जड़त्वभाव प्रदर्शित किया गया है। परन्तु पुरुष का चेतन होते हुये भी क्रिया रहित, अकर्ता एवं ऐश्वर्यहीन प्रस्थापन और इसी प्रकार प्रकृति का जड़ होते हुये भी स्वतः परिणामशील क्रिया से सम्पन्न प्रदर्शन खटकने वाली बात है। दूसरे, पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग होता ही उसके बन्धन एवं उससे विविक्त (पृथक्) होना ही कैवल्य (मोक्ष) अभिव्यक्त किया गया है- यह बात भी अत्यन्त सारहीन प्रतीत होती है। क्योंकि जब प्रकृति से पृथक् रहना ही पुरुष का कैवल्य (चरम लक्ष्य) है, तो वह उसके सम्पर्क में ही क्यों आता है और आता भी कैसे है ? यह संयोग कौन करवाता है ? किस लिये ऐसा होता है ? क्योंकि यदि वह पहले अपनी शुद्ध दशा में होता है, तो उसको प्रकृति के प्रति औदासीन्य ही होगा, क्योंकि सांख्य मत में विवेक-ख्याति के पश्चात् भी तो पुरुष प्रकृति से अपनी पृथक्ता देखकर ही उससे उदासीन होकर कैवल्यभाव में स्थिर हो जाता है। अतः वह ऐसी दशा में प्रकृति से संयोग क्यों करेगा ? सांख्य वाले इसमें अनादि अज्ञान को कारण बतलाते हैं- परन्तु ऐसा

मानने पर भी एक तो पुरुष निष्क्रिय होने से संयोग क्रिया में असमर्थ होगा ही, दूसरे यह अनादि अज्ञान है क्या ? चेतन है अथवा जड़ ? चेतन होने पर चेतन पुरुष से अभिन्न ही होगा और जड़ होने पर चेतन पर प्रभाव डालने की क्रिया में असमर्थ होगा, क्योंकि जड़ की अपनी क्रिया होती ही नहीं। सांख्य मत में अज्ञान का कोई निश्चित् आधार प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था ही को प्रकृति कहा गया है और यही जगत् के प्रलय की भी दशा होती है, परन्तु पुनः जगत् सृष्टि के लिये इसमें गुण-विक्षोभ होनेसे विकास-क्रम बतलाया जाता है- यह बात भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि प्रकृति एवं उसके गुण तो जड़ माने गये हैं- गुण-विक्षोभ की क्रिया चेतन सापेक्ष है, अतः वह इसमें असम्भव है।

इसी प्रकार सांख्य मत में ईश्वर की सत्ता का न मानना भी दोषपूर्ण ही प्रतीत होता है, क्योंकि एक सार्वभौम चैतन्यसत्ता को माने बिना प्रकृति की परिणामशीलता एवं पुरुषों की उससे सम्बद्धता, कर्मफल भोग इत्यादि की समस्यायें निराकृत नहीं होती हैं।

परन्तु इन सभी तथ्यों के होते हुये भी सांख्य दर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट स्थान रखता ही है, क्योंकि एक तो इसकी पच्चीस तत्त्वों की खोज एवं विवेचना लगभग सभी दर्शनों को न्यूनाधिक परिष्कार के साथ वैसी की वैसी मान्य है, जिसके लिये अन्य दर्शन इसके ऋणी प्रतीत होते हैं। दूसरे, इसका लक्ष्य दार्शनिक गुत्थियों में न उलझकर केवल मानवमात्र के कल्याणहेतु त्रिविध तापों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक शान्ति प्रतीत होता है। उसके लिये लौकिक एवं आनुश्रविक उपायों को सर्वथा उपयुक्त न देखकर व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के विविक्तता ज्ञान से ही परम श्रेयस् की प्राप्ति होना बतलाया है। लौकिक जगत् में भी हम देखते हैं कि राग (आसक्ति) और द्वेष इत्यादि ही सभी प्रकार की बुराईयों की जड़ होते हैं। इन्हीं के प्रभाववश व्यक्ति-व्यक्ति, भाई-भाई, पड़ोसी-पड़ोसी, जाति-जाति, देश-देश का झगड़ा होता है। इसीलिये सांख्याचार्यों ने इस बुराई की जड़ को समझते हुये यह सारतत्त्व का उपदेश दिया कि पुरुष तो व्यर्थ में ही सुख-दुःख और मोह इत्यादि में पड़कर पिस रहा है- वास्तव में वह तो एक शुद्ध, निर्लेप, साक्षी, उदासीन, द्रष्टा, चेतन एवं कैवल्यरूप मात्र है। इसका न जन्म होता है, न मृत्यु, न बन्धन होता है, न मुक्ति- ये तो प्रकृति के धर्म हैं। उसी का विकाररूप ही ये सब अनिष्टों की खान स्थूल शरीर, आवागमन का साधनरूप सूक्ष्म शरीर होते हैं। पुरुष तो केवल उनके प्रति अज्ञान

से आत्माभिमान करने के कारण भोक्ता बना हुआ है। इसका किसी भी कार्य के सम्पादन में अपना कर्तृत्व नहीं होता है– प्रकृति के गुणों से सभी कार्य सम्पन्न होते रहते हैं। पुरुष तो प्रकृति के गुणों को अपना समझकर एवं उसके कार्य को अपना मानने से ही उसके शुभाशुभ फल का एवं शुभाशुभ योनियों का भोक्ता बन जाता है। अत: सांख्य दर्शन पुरुष को प्रकृति के माध्यम से सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर के प्रति आसक्ति, मिथ्याभिमान से दूर (पृथक्) रहने के लिये सावधान करता है। इसके लिये ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाता है। पुरुष के पुनर्जन्म अथवा कर्म के सिद्धान्त को अज्ञान तक ही सीमित रखा गया है, क्योंकि जब तक प्रकृति पुरुष के पार्थक्य के विषय में अज्ञान ही रहेगा, तब तक पुरुष का उससे तादात्म्य रहेगा और उसके कारण दु:खादि स्वाभाविक रूप से रहेंगे ही।

अत: इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ सांख्य दर्शन जगत् के घटक (निर्मातृ) तत्त्वों की एक वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त व्याख्या प्रस्तुत करता है, वहीं मानवमात्र के परोपकार के लिये, दु:खों-क्लेशों से छुटकारे के लिये पुरुष और प्रकृति के विवेक-ज्ञान (पार्थक्य अनुभूति) को सरल एवं सर्वजनसुलभ उपाय प्रस्तुत करता है। यद्यपि पुरुष, प्रकृति, ईश्वर एवं जगत् के स्वरूपादि विवेचन विषयक कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, परन्तु उनका ध्यान न रखने से मानव-कल्याण के मार्ग में कुछ सहायता तो मिल ही सकती है। अत: दर्शन जगत् में इसका अपना महत्त्व है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन एक परमसत्ता की पारमार्थिकता को अभिव्यक्त करता है। समस्त प्रमाता-प्रमेय रूप जगत् प्रपञ्च को उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति का विलास बतलाता है। वह परमसत्ता प्रकाश और विमर्श रूप है। विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय है। माहेश्वर्य ही उसका मुख्य स्वभाव है। वह अनन्त शक्तियों से युक्त हैं। उनमें चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ मुख्य हैं। इनमें भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ प्रधान हैं। ज्ञान और क्रिया को समस्त जीवों की जीवनी शक्ति कहा गया है। परमसत्ता का यह स्वभाव ही है कि वह सतत सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान (विलय) और अनुग्रहरूप पञ्च प्रकार के कृत्यों को सम्पन्न करते ही रहते हैं। माया भी उनकी शक्ति ही है, जिससे वह स्वरूप तिरोधान एवं जगत् वैचित्र्य की लीला सम्पन्न करते हैं। जिस प्रकार एक सिद्ध योगी अपनी इच्छामात्र से अभीष्ट वस्तुओं का निर्माण कर लेता है और किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता है, उसी प्रकार परमसत्ता अपनी इच्छा से अपने अन्त: स्थित प्रमाता-प्रमेय के समूह को एकत्व की अपेक्षा

अनेकत्व के रूप में बाह्य अवभासित कर देते हैं। परन्तु उनके अन्त: अथवा बाह्य आभासन से उनके स्वरूप में कोई पूर्णता अथवा न्यूनता नहीं होती हैं। वह सदैव परिपूर्ण, नित्योदित, अक्षर एवं असीमित शक्ति सम्पन्न ही रहते हैं। वह स्वयं प्रकाशरूप हैं और जगत् के समस्त भाव भी प्रकाशरूप ही हैं। अत: पूर्णाद्वैत स्वरूप हैं। विश्वरूप में आभासित होने के समय अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से अपने स्वरूप एवं शक्तियों में स्वेच्छा से संकोच उत्पन्न कर देते हैं। इससे उनका पूर्णत्व अपूर्णत्व के रूप में आभासित होने से आणव मल हो जाता है, जिसमें शुद्ध कर्तृता एवं ज्ञातृता शक्तियों का विकल्प से संकोच होता है। स्वरूप संकोच के कारण उनके पदार्थों से सर्वथा एकरूप होने पर भी उनमें अनेकत्व की प्रतीति होने से मायीय मल हो जाता है। अनेकता की प्रतीति में एक शिव का कर्तृत्व होने पर भी सीमित कर्तृता के अभिमान से शुभाशुभ कर्मों के सम्पादन में अभिमान होता है एवं उनके फलभोग तथा संस्कारों के प्रभव से संसृति चक्र में पड़ जाता है। उनकी सर्वकर्तृत्व शक्ति अल्पकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व शक्ति अल्पज्ञत्व, पूर्णत्व शक्ति अपूर्णत्व, नित्यत्व शक्ति अनित्यत्व और सर्वव्यापकत्व शक्ति अव्यापकत्व के रूप में आभासित होने से कला, विद्या, राग, काल और नियति का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार परमसत्ता स्वेच्छा से त्रिविध (आणव, मायीय, कार्म) मलों और माया सहित इन पञ्च (कलादि) कञ्चुकों से आवृत्त होकर पति (चिति) से पशु (चित्त) बन जाती हैं। ज्ञान, क्रिया और माया शक्तियाँ अभेद से तिरोहित होकर भेद में सत्त्व, रज और तम गुणों में अभिव्यक्त हो जाती हैं। इस दशा में बौद्ध (बुद्धि विषयक) और पौरुष (स्वरूप विषयक) अज्ञान हो जाता है। परन्तु शास्त्र मनन-चिन्तन से बौद्ध ज्ञान और अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय, आणवोपायादि अथवा परमसत्ता के अनुग्रह अथवा शक्तिपात से पौरुष ज्ञान होने पर अपनी वास्तविक शक्तियों का विकास होने से परमार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है और इस प्रकार पुन: पशु (चित्त) पति (चिति) परमसत्ता रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व अपनी शक्तियों का ही विकास रूप दिखाई देने से जगदानन्द, माहेश्वर्य, शिव व्याप्ति की अनुभूति होती है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन का नाम अपने शिवरूप की पहचान के कारण सार्थक एवं सर्वथा उपयुक्त है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीवन दशा में ही अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान हो जाने से पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। तब समस्त विश्व को अपनी शक्तियों का प्रसर समझता हुआ सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी माहेश्वर्य की अनुभूति करता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त जगत् से पलायनवाद अथवा गृह-त्याग

(संन्यासादि) की नीति का समर्थक नहीं है। यह मत तो जगत् को परमेश्वर की शक्तियों का स्फार ही मानता है, इसलिये इस तथ्य की अनुभूति कर लेने वाला पुरुष अपने दृष्टिकोण में एक स्वच्छ परिवर्तन लाता है अर्थात् जगत् को अपना स्वरूप ही समझता हुआ व्यवहार करता है। इसलिये उसकी निष्कर्मण्यतादि का प्रश्न ही नहीं उठता।

यह दर्शन व्यक्ति के उच्च व्यक्तित्व के विकास के लिये मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता है। उसके परिमित ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व और स्वातन्त्र्य को सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व और असीमित स्वातन्त्र्य (इच्छा शक्ति का अविघात) को उद्‌बोधित करता है। तात्पर्य यह है कि यह व्यक्ति के उच्चतम व्यक्तित्व एवं चैतन्य की धरोहर सम्पन्नता का स्मरण करवाता है, प्रत्युत् साधक ऐसी अनुभूति करके पारमार्थिक आनन्द को प्राप्त होता है।

यह विश्व के अन्य दर्शनों की भाँति भाई-बन्धुत्ववाद, अहिंसा, प्रेम, सेवक-सेव्यभाव इत्यादि का तो समर्थन करता ही है, प्रत्युत् इन सबसे बढ़कर "आत्मवाद" का सिद्धान्त स्थापित करता है, जो उपनिषद्-गीतादि का सारतत्त्व है और विश्व-शान्ति का अमोघ एवं सर्वोत्तम साधन है। क्योंकि जब सभी सब में अपनी आत्मा को एवं अपनी आत्मा में ही समस्त प्राणियों को देखेंगे, तो घृणा, विरोध, लड़ाई-झगड़ा, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिक उन्मादादि किसके प्रति करेंगे ? देश-विदेशों में भूमि एवं राज्यसत्ता हथियाने की कुप्रवृत्तियों की समस्यायें स्वयमेव समाप्त हो जायेंगी। सभी में एक आत्मा के दर्शन से संसारित्व एवं अकर्मण्यता आदिजन्य दुःखों का आश्रयरूप मोह, शोक आदि नहीं रहते हैं अर्थात् एकात्मवाद से सच्चा जीवन एवं सुख मिलता है। आचार्य उत्पलदेव अनुसार यही परमेश्वर की सच्ची पूजा है। क्योंकि इस मत में परमेश्वर को ही सभी की आत्मा माना गया है और सभी अपनी आत्मा के प्रति अनुराग रखते हैं। इस प्रकार स्वभावसिद्ध आत्म-महेश्वर की प्रत्यभिज्ञा रूपी पूजा ही उत्कृष्टतम वन्दना है।[1] गीता[2], ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य[3] का भी यही मत है। अतः प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त समस्त विश्व को एक सर्वमान्य परमात्म धर्म की सद्प्रेरणा देता है, जोकि इस भयावह एवं

---

1. "त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्। इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः।।"
   –शि०स्तो०, 1/7
2. "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा समभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।"
   –भ०गी०, 18/46
3. "अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।" –या०स्मृ०, 1/8

संकटमय समय में विश्व के धर्म, जाति एवं मत-मतान्तरों के उग्रवाद को सर्वथा दूर करने में सर्वदा समर्थ है।

यह सिद्धान्त वर्तमान विश्व, समाज एवं संस्कृति के समक्ष मानवीय नैतिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की मनोवैज्ञानिक तथा तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार प्रत्येक पुरुष एक चेतनात्मा सम्पन्न है, जिसका सहज स्वभाव स्वातन्त्र्य है, कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व उसके धर्म हैं। अतः प्रत्येक मानव की अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, करने और सोचने में स्वच्छन्दता का नैतिक अधिकार ईश्वर प्रदत्त है। क्योंकि सभी ऐसी ही आत्मा से सम्पन्न हैं, अतः यह समानता का अधिकार सभी को प्राप्त है। अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ चलने के नियम से यह तथ्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रतादि के अधिकार के साथ-साथ समाज, देश, विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी स्वतन्त्रतादि में बाधा न बनने के कर्त्तव्य को भी अपेक्षित रखता है।

यह दर्शन व्यक्ति को प्रकृति, विषय और इच्छादि का दास बनने से रोकता है एवं अपेक्षा को पारतन्त्र्य मानता है। आत्मा की पूर्ण प्रभुसत्ता में विश्वास रखता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्रकृति इत्यादि से भी उत्कृष्टतम वस्तु आत्मा को ही अभिव्यक्त करता है। प्रायः छोटे से छोटा एवं बड़े से बड़ा व्यक्ति भी तुच्छ इच्छाओं, नश्वर एवं क्षणिक शारीरिक लावण्यों तथा सारहीन सांसारिक ऐश्वर्यों के पीछे अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ गंवा देता है। आज के इस वैज्ञानिक युग में तथाकथित उन्नति मुख्यरूप में इन्हीं अनात्म-पदार्थों की लालसा से सीमित होकर विश्व विनाश एवं त्रास को बढ़ावा दे रही है। आत्मा की प्रत्यभिज्ञा पुरुष को इन द्वन्द्वों से ऊपर उठाकर एक सच्चा मानव बनाती है। पशु से पति, राक्षस से देवता और बन्ध को मुक्त बनाती है।

भारतीय दर्शन में जन्म-कर्मवाद एक मुख्य सिद्धान्त है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि विधाता अनुसार किसी प्राणी के पूर्वसंचित कर्मों में से जो प्रारब्ध कर्म रूप से निश्चित् कर दिया जाता है, वह क्रियमाण कर्मों से टाला नहीं जा सकता है। दूसरे मनीषी कहते हैं कि प्राणी में एक अद्‌भुत परिवर्तन करने की सामर्थ्य है, जो विधि-विधान अथवा कोई विशेष कर्मानुष्ठान से सम्भव हो सकता है। परन्तु यह अनुष्ठान यदि विधिपूर्वक न हो, तो इष्ट की अपेक्षा अनिष्ट भी हो सकता है। इन सभी तथ्यों के होते हुये भी आप्त महापुरुष सदैव

आत्मा की तृप्तिपूर्वक समभाव से उद्यमशील रहने के सिद्धान्त को मानते रहे हैं, भले ही यह लोक संग्रह के लिये ही क्यों न हो। प्रत्यभिज्ञा दर्शन भाग्यवाद को नहीं मानता है अर्थात् इसमें अभीष्ट परिवर्तन लाया जा सकता है। इच्छा शक्ति का अबाधित स्वातन्त्र्य माना गया है[4], जो प्रत्यभिज्ञा से ही अनुभूत होता है। इसलिये अनुपायादि उपायों में भी सर्वत्र इच्छा शक्ति का ही प्राबल्य रहता है। इसलिये यह दर्शन सकाम अथवा निष्काम कर्मों के द्वन्द्व में न पड़कर पुरुष की स्वस्वरूप समावेशपूर्वक प्रत्यभिज्ञान से अभीष्ट कार्य सम्पन्न करने की स्वतन्त्रता अभिव्यक्त करता है। अतः इस दशा में यह कर्म-बन्धनादि से मुक्त रहता है। भाग्यवाद केवल अज्ञानीजनों तक ही सीमित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन पुरुष को परमसत्ता के रूप में अनुभूति करने, माहेश्वर्य प्राप्त करने एवं सर्वतोमुखी विकास का भोक्ता बनने में पूर्ण समर्थ बनाता है। तप, योग, प्राणायामादि की कठिन साधन-प्रक्रियाओं की अपेक्षा अपने परमार्थ स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से ही महेश्वरत्त्व की अभिव्यक्ति का नवमार्ग प्रस्तुत करता है, जिससे इच्छानुसार करने एवं जानने की सामर्थ्य आ जाती है और जगदानन्द की अनुभूति होती है।[5] त्रिपुरसुन्दरी परा भगवती शक्ति सभी का स्वस्वरूप-प्रत्यभिज्ञान से सर्वथा एवं सर्वदा मंगल करें।

---

4. "इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।" -शि०सू०, 1/13
5. "एवमात्मानमेतस्य सम्यग्ज्ञानक्रिये तथा। पश्यन्यथेप्सितानर्थाञ्जानाति च करोति च।।" -ई०प्र०का०, 4/15

ग्रन्थ – सूची

मूल ग्रन्थ

क्रमांक	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
1.	अनुत्तराष्टिका	अभिनवगुप्त	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	1963
2.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा सवृत्ति	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1921
3.	ईश्वरसिद्धि सवृत्ति	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1921
4.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1921
5.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1943
6.	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1938
7.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1963
8.	नेत्रतन्त्र	आगम	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1963
9.	पातञ्जलयोग दर्शनम्	पतञ्जलि	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1980
10.	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1931
11.	परात्रिंशिका विवरण	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
12.	परा प्रावेशिका	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1958
13.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1978
14.	प्रत्यभिज्ञादर्शनम्	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्या भवन, दिल्ली	1978
15.	विज्ञान भैरव विवरण	शिवोपाध्याय	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
16.	विज्ञान भैरव विवृति	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली,	1918
17.	बोधपञ्चदशिका	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1947

18.	भगवद्गीतार्थ संग्रह	अभिनवगुप्त	कश्मीर प्रताप स्टेम प्रेस, श्रीनगर	1933
19.	मालिनीविजयवार्त्तिकम्	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1921
20.	मातृकाचक्र विवेक	स्वतन्त्रानन्दनाथ	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी	1934
21.	महार्थमञ्जरी	महेश्वरानन्द	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
22.	वेदान्तसार	सदानन्द	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	1967
23.	शास्त्र परामर्श	मधुराज योगिन	रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन डिपार्टमेंट, कश्मीर	1960
24.	शिवदृष्टि वृत्ति	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1934
25.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1964
26.	शिवसूत्र विमर्शिनी	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1911
27.	षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
28.	स्पन्दकारिका विवृति	श्रीरामकण्ठ	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1918
29.	स्पन्द निर्णय	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1983
30.	स्पन्द सन्दोह	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1917
31.	स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत	क्षेमराज	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1947
32.	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी	1978
33.	सिद्धमहारहस्यम्	अमृतवाग्भव	श्रीरणवीर केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू	1974
34.	सांख्यकारिका (गौड़पाद - तत्त्वकौमुदी)	ईश्वरकृष्ण	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1974
35.	सांख्यसूत्र	कपिल (?)	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1969
36.	सांख्यप्रवचन भाष्य	विज्ञानभिक्षु	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1969
37.	सांख्य तत्त्वसमास सूत्र	कपिल (?)	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1969

सहायक ग्रन्थ सूची

38.	काश्मीर शैव दर्शन	डॉ. बी.एन. पण्डित	श्रीरणवीर केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू	1973
39.	काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी	डॉ. भँवर लाल	नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली	1968
40.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी	–
41.	भारतीय दर्शन	डॉ. उमेश मिश्र	हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र., लखनऊ	1970
42.	भारतीय दर्शन	विक्रमादित्य सिंह	प्रकाशन केन्द्र, सीतापुर, उ.प्र., लखनऊ	1986
43.	भारतीय दर्शन	डॉ. कुंवर लाल	इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली	1981
44.	भारतीय दर्शन	डॉ. राधाकृष्ण	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1974
45.	राजतरंगिणी	जोनराज	प्राच्य विद्या ग्रन्थमाला, वाराणसी	1962
46.	राजतरंगिणी	कल्हण	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	1962
48.	An Historical & Philosophical Study of Abhinavagupta	Dr. K.C. Pandey	The Chowkhamba S.S. Varanasi	1963
49.	Aspects of Kashmir Saivism	Dr. B.N. Pandit	Utpal Publication, Srinagar	1977
50.	Aspects of Indian Thought	Dr. Gopinath Kaviraj	The University of Burdwan	1966
51.	Contribution of Kashmir to Sanskrit	Dr. K.S. Nagrajan	Private V.B. Subhiah & Sons, Bangalore	1978
52.	Kashmir Saivism	J. Rudrappa	Director, P.M. Gangotri, Mysore	1967
53.	Disagreement of Kashmir Saivism with Samkhya and Vedanta	Swami Lakshmana	Kashmir Saiva Darshan Article, Srinagar	1979
54.	Kashmir Saivism	J.C. Chatterji	K.S.S., Srinagar	1935
55.	Kashmir Saivism	Dr. V. Sharma	B.V.P. – Varanasi	1972
56.	Shakti Cult in Ancient India	Dr. Pushpendra	B.V.P. – Varanasi	1978
57.	Siva Sutras	Edited by Jaidev Singh	Moti Lal Banarsi Dass, Delhi	1982
58.	Schools of Saivism	Jadunath	Sinha Publishing House, Calcutta	1975
59.	The Doctrine of Recognition	Dr. R.K. Kaw	Vighveshwaranand, Institute, Hoshiarpur	1967

अन्य सहायक ग्रन्थ

60.	अथर्ववेदीय देव्युपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
61.	अमनस्कयोग	गोरखनाथ	सिद्धसाहित्य प्रकाशन मण्डल, पूना	1950
62.	अष्टावक्र संहिता	अष्टावक्र	श्रीजीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता	1950
63.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
64.	ऐतरेयोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
65.	कठोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
66.	केनोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
67.	कौषीतकि ब्राह्मण	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
68.	तैत्तिरीयोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
69.	प्रश्नोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
70.	मुण्डकोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
71.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
72.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
73.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	निगम	गीताप्रेस, गोरखपुर	1949
74.	ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य	शंकराचार्य	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1977
75.	विवेकचूड़ामणि	शंकराचार्य	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1977
76.	निरुक्त	यास्काचार्य	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1983
77.	सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजिदीक्षित	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1973
78.	याज्ञवल्क्य स्मृति	याज्ञवल्क्य	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	1985
79.	उत्पलदेव का काश्मीर शैव दर्शन को योगदान	डॉ. जगीर सिंह	शोध-प्रबन्ध संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय	1985
80.	काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन में परमसत्ता की मान्यता	डॉ. जगीर सिंह	शोध-पत्र संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय	1985
81.	शैवाचार्यों का काश्मीर शैव दर्शन को योगदान	डॉ. जगीर सिंह	शोध-पत्र संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय	1986
82.	योगवासिष्ठरामायण	वाल्मीकि	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1983
83.	आत्मविलास-अमृतवाग्भव		एस.एन. मंगोत्रा प्रिंटिंग प्रेस, जम्मू	1982

-डॉ॰ जगीर सिंह

एम॰ए॰, एम॰फिल॰, पी॰एच-डी॰
प्राध्यापक
संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

सिद्ध कपिल द्वारा प्रवर्तित सांख्य दर्शन भारतीय विचारधारा में अद्वितीय स्थान रखता है । यह मत वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, रामायण–महाभारतादि में बिखरा पड़ा है । इसे ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में सुनियोजित ढंग से व्यवस्थित किया है । सम्यक् आत्मज्ञान से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है ।

भगवान् शिव से सिद्ध दुर्वासा–त्र्यम्बकादित्य की परम्परा से सोमानन्द को उपलब्ध एवं उत्पलदेव द्वारा 'ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा में तर्कसंगत ढंग से सुनिबद्ध समस्त आगम–शास्त्र का रहस्य ज्ञान सुविख्यात किया गया है, जो जीवात्मा को शिवात्मा के रूप में पहचान का सरल मार्ग प्रस्तुत करता है । अतः प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का अमूल्य रत्न है ।